प्रस्तावना

नये युग की पुकार है—"आगे बढ़ो, समय की तीव्र गति के साथ-साथ पग बढ़ाते हुए आगे बढ़ते चलो। समय के अनुसार अपने क परिवर्तित करते रहने में ही भलाई है।" सिद्धान्त बड़ा सुन्दर है। विश्व के अधिकाश लोगों ने इसका अनुसरण किया और प्रगतिशील युग के साथ आगे बढ़ते गये किन्तु इस प्रगति ने उन्हें एक दिन ऐसे छोर पर पहुँचा दिया, जहाँ से एक पग भी आगे बढ़ने पर विनाश के गर्त में पहुँच जाना पडेगा। वैज्ञानिक प्रगति ने यही स्थिनि ला उपस्थित की है। विज्ञान की उन्नति तो की गई किन्तु उसका नियन्त्रण करने की शक्ति किसी में नही है। वह शक्ति है न्याय की शक्ति। अणु और उद्जन जैसे विनाशकारी अस्त्रो का निर्माण करने के साथ-साथ उनके प्रयोग के औचित्य का ज्ञान जब तक न होगा, तब तक परिणाम भयकर होने की ही सम्भावना बनी रहेगी। सभी लोग, सभी राष्ट्र न्याय-बुद्धि और धर्म-बुद्धि के अभाव में स्वार्थान्ध और मदान्ध हो रहे हैं।

कहने को यह प्रगति है किन्तु सभ्यता के इस युग मे जितना हाहाकार और अशान्ति व्याप्त है, ऐसी भयंकर स्थिति के दर्शन प्राचीन-युग मे कभी न होते थे। उस काल में सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य व्याप्त था। सभी सुखी, सानन्द और वैभव-सम्पन्न थे। किसी को किसी वस्तु का अभाव न था। लोगो म स्वार्थ न था, वरन् वे परोपकार-भावना से भरपूर थे। चोरी, डकती, अपहरण और भ्रष्टाचार का नाम तक न था। यह सब क्यों था? कारण क्या था उस युग की इन विशेषताओं का? इसका एक ही उत्तर है—लोगों मे धर्म-बुद्धि थी। समय के साथ-साथ गिरगिट की तरह रंग बदलते रहने की बुद्धि का अभाव था। समय का निर्माण मानव ने किया है, न कि समय मानव को बनाता है। आज अगर चोरी, डकैती बढ रही है तो इसका अर्थ यह नहीं कि इसे समय की विशेषता समझ कर हम भी चोर और डाकू बन जाये। जो सिद्धान्त आज

से हजार वर्ष पूर्व लागू थे, वे आज भी लागू हो सकते हैं। सत्य सदैव सत्य ही रहता है और असत्य सदैव असत्य । समय का प्रभाव सत्य को असत्य या पुण्य को पाप नहीं बना सकता, यह तो हमारी बुद्धि का भ्रम है जो हम पुण्य को पाप और ठीक वस्तु को गलत समझने लगे हैं। इससे हमारी भलाई होने वाली नहीं है।

आज के प्रगतिवादी लोग बड़े सुन्दर-सुन्दर शब्दों द्वारा प्रगति युग की मृग-मरीचिका के भुलावे मे हमें डालने का प्रयत्न करते हैं किन्तु हम उनसे पूछते हैं—भले लोगो, आज के युग और प्राचीन युग की तुलना तो करो। प्राचीन काल की अखंड शान्ति क्या तुम आज के मायावी युग में फिर से ला सकते हो ? क्या वह सुख-चैन और आनन्द-वैभव तुम्हारे युग मे फिर से सम्भव है ?

आज का मानव अपने स्वार्थों में अन्धा हो रहा है। उसे अपनी भलाई के सामने दूसरे की भलाई का कोई ध्यान नहीं। दूसरा भूखों मरता है तो भले ही मरे, उसे क्या ? उसका अपना पेट तो ५६ भोगों से भर ही रहा है न ? लोगों के पास पहनने को, अपने स्त्री-बच्चों की इज्जत आबरू ढकने के लिए डेढ गज कपड़ा भी नहीं है तो उसे क्या ? उसके पास तो रोज नये-नये सुन्दराति-सुन्दर वस्त्र पहनने को हैं न। रहने को आलीशान महल और भवन हैं न। किन्तु प्राचीन युग। उसमे प्रत्येक को पहले दूसरे के पेट की चिन्ता होती थी और फिर अपनी चिन्ता। गली-मोहल्ले में अगर कोई भूखा है तो यह पड़ोसियों का कर्त्तव्य था कि उसे भूखा न सोने दें। अतिथि सेवा तो प्रत्येक का परम धर्म था। यही सबसे बड़ा अन्तर है पुराने और नये युगों का। हमारा यह उत्तर सुन कर कोई साधारण बुद्धि भी कह देगा कि वह प्राचीन युग आज से लाख गुना अच्छा था। इस अच्छाई का कारण क्या था—प्राचीन युग की संस्कृति और धर्म, जिसके नाम से भी आज हम नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। तो फिर हमारी दुर्दशा क्यों न हो ?

अरे पथभ्रष्ट मानव ! अगर शान्ति, सुख-चैन और आनन्द की वाञ्छा है तो धर्म का सहारा ले, अपनी प्राचीन संस्कृति का समादर और अनुसरण कर।

प्रस्तुत पुस्तक इसी धर्म-सस्कृति की चर्चा का संग्रह है। पंजाब केसरी प्रान्त-मन्त्री मुनि श्री प्रमचन्द जो महाराज के अमूल्य प्रवचन इसमे संगृहीत हैं। इन प्रवचनों मे धर्म-संस्कृति के गूढ से गूढ विपयो पर वड़ा ही विशद प्रकाश डाल गया है जिससे ये विषय जन-जन के लिए अत्यन्त सरल और मस्तिष्क को सहज ही समझ में आजाने योग्य हो गये हैं। मुनिश्री के प्रवचनों की यही तो विशेषता रहती है कि वे कठिन से कठिन विषयों को भी इस ढंग से समझाते हैं कि साधारण जनों के हृदय मे वे सहज ही घर कर लेते हैं। मुनिश्री ने तो अपना समस्त जीवन ही जनहितार्थ धर्मप्रचार के लिए अर्पित कर रक्खा है और तदर्थ वे सदा ही अनेक प्रदेशों की यात्रा किया करते हैं। आप वहुत वडे विद्वान और अनेक भापाओं—हिन्दी, सस्कृत, उर्दू, पंजावी, गुजराती आदि के ज्ञाता हैं और इन भषाभाषी प्रान्तों के लोगों को आपने अपने उपदेशों से वहुत अधिक प्रभावित करके जैन धर्मानुयायी वनाया है। आपके सद्प्रयास वास्तव में प्रशसनीय हैं।

इस पुस्तक मे आपके राजस्थान के व्यावर नामक स्थान पर दिये गये प्रवचन सगृहीत हैं। इससे पूर्व प्रेम सुधा के छः भाग छप चुके हैं और यह सातवा भाग है। इस प्रकार धार्मिक जन मुनिश्री के उपदेशों का पुस्तक रूप में स्थायी धन प्राप्त कर कृतकृत्य हो रहे हैं।

अन्त में हम श्री भिखीमल विश्म्भर सहाय सराय लोहारा (जिला मेरठ) को अत्यन्त धन्यवाद देते हैं जिन्होंने इस पुस्तक को अपने खर्च पर प्रकाशित कर धार्मिक जनों को लाभ पहुचाया।

—सम्पादक

विषय सूची

प्रेम - सुधा

सातवाँ भाग

: १ :

सच्ची भगवद्भक्ति

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिता, सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराः पूज्या उपाध्यायकाः ।
श्रीसिद्धान्तसुपाठका मुनिवरा रत्नत्रयाराधका,
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं, कुर्वन्तु नो मङगलम् ।।

उपस्थित महानुभावो ! जीवन का निर्माण करना मनुष्य के अपने ही हाथो में है । मैंने आपको कल बताया था कि मनुष्य स्वयं ही अपने जीवन को ऊँचा उठा सकता है या नीचे गिरा सकता है, विकास की ओर ले जा सकता है या पतन की ओर गिरा सकता है । वह चाहे तो उच्च गति का अधिकारी बन सकता है अथवा चाहे तो नीच गति का । यह सब उसके अपने ही अधीन है । कोई अन्य व्यक्ति इसमे न हिस्सेदार हो सकता है न बाधा उपस्थित कर सकता है । ज्ञानी पुरुषो ने बताया है कि कौन-कौन से श्रेष्ठ कर्म करके मनुष्य ऊँची गति प्राप्त कर सकता है और कौन-कौन से पाप कर्म करने से उसे नीच गति प्राप्त होती है ?' ज्ञानियो ने हमे सरल और स्वच्छ मार्ग बता दिया है, किसी भूले-भटके पथिक को सही रास्ता बताना कितने उपकार का काम है !

भगवान् के समीप आप कोई भी प्रार्थना लेकर नही गये। किन्तु फिर भी भगवान् ने आपके कल्याण के लिए उत्थान की ओर ले जाने वाला मार्ग बताया है। उन्होने बताया है कि अमुक शुभ कर्म करने से उच्च गति और अमुक पाप कर्म करने से नीच गति प्राप्त होती है। शास्त्रकारो ने कहा है कि दीपावलि की रात्रि को भगवान् निर्वाण प्राप्त करते है, और उससे पूर्व वे विचार करते है कि ससार के प्राणियो के कल्याण के लिए कुछ न कुछ और दे जाना चाहिए। तो उन्होने उ० सू० के ३६वें अ० की गा० २५७ मे बताया कि इस प्रकार के जीवो को सम्यक्त्व की प्राप्ति दुर्लभ होती है —

"मिच्छा दंसण रत्ता, सनियाणा कण्ह लेसमो गाटा।
इय जेंयरन्ति जीवा तेसि पुण दुल्लहा बोही ॥

अर्थात्, जो जीव मिथ्यात्व में रमण करता है, रंगा रहता है; जो धर्म के काम को अधर्म और अधर्म के काम को धर्म समझता ह, मिथ्यात्व ही जिसे प्यारा लगता है; जो मिथ्या रास्ते पर चलने वाला है, जर, जोरू और जमीन के त्याग करने वाले गुरुओ को जो पाखडी और ढोगी कहता है और इनके विपरीत आडम्बर करने वाले लोभी आरभी परिग्रही विषयासक्त कुगुरुओ को जो संसार का कल्याण करने वाले मानता है, ससार को बढाने वाली जन्म-मरण की प्रदाता कुप्रवृत्तियो को जो मोक्ष का साधन मानता है और जन्म-मरण को समाप्त करने वाली जप, तप, संयम आदि सुप्रवृत्तियो को जो ससार-वृद्धि का कारण समझता है, कर्ममुक्त आत्माओ को जो कर्मयुक्त मानता है, मोक्षात्माओ को जो पुन. ससार में आना मानता है, ऐसा प्राणी

प्राय. नीच गति की ओर जाने वाला होता है । इसी प्रकार की कुछ प्रवृत्तिया आजकल आप लोगो में भी उत्पन्न हो गई है। कई ऐसे स्तवनादि लिखे गये है कि जिनमे भगवान् महावीरादि को निर्वाण से फिर ससार मे वुलाया गया है। यह अनुचित है। हमारा साहित्य, हमारी सस्कृति का समर्थक होना चाहिए । आप लोग ही नही, कई साध-साध्वी भी इसी प्रकार के भजन लिखते और गाते है, जैसे 'महावीर स्वामी आजा-आजा' आदि ।

सज्जनो! अनन्तकाल से अनेक कष्टो को भोगते-भोगते तो वडी कठिनता से निर्वाण की प्राप्ति उन्हे हुई है और आप उन्हे फिर से इस संसार रूपी कीचड मे फंसाने के लिए वुलाना चाहते है। आपके वुलाने से निश्चित रूप से वे आने वाले तो नही है किन्तु आप तो मिथ्यात्व के भागी वन ही जाओगे। तो यह मिथ्यात्व जीव को नीच गति मे ले जाने वाला है। कुछ लोग जप-तप-वेला-तेला-अठाई आदि करते है और उसके वदले में भौतिक, पौद्गलिक सुखो की याचना करते है । यह भी अनुचित है। मुह मे जव मिश्री डाली जायेगी तो मुह मीठा होगा ही, इसमे सन्देह के लिए स्थान नही है। हा, यदि तुम्हारे मुह मे ही विकृति है और जीभ का स्वाद विगड रहा है तो वह मीठी वस्तु भी कडवी लगती है । किन्तु इसमे मिश्री का तो दोष नही है। इसी प्रकार भगवान् की वाणी तो मीठी ही है। शास्त्र की वात यदि किसी को कटुक लगती हो और मन को नही भाती हो तो उसमे उस वाणी का कोई दोप नही है, दोप उसके अदर मिथ्यात्व के विकारो के उदय होने का ही है । वे विकार ही उसे प्रभु की वाणी मीठी नही लगने देते, क्योकि मिथ्यात्वी को तो मिथ्यात्व ही प्यारा लगता है ।

सज्जनो ! यदि किसी व्यक्ति को सर्प ने काट लिया हो और उसकी देह मे विष व्याप्त हो गया हो तो उस व्यक्ति तो यदि नीम के पत्ते खाने को दिये जाते है तो वे उसे मीठे ही लगेंगे। साँप के काटे की लोग यही परीक्षा मानते है। यदि उस व्यक्ति को नीम के पत्तो कडवे लगें तो समझना चाहिए कि उसे विप का असर नही है। किन्तु यदि उसे वे पत्ते, जोकि वास्तव मे कडवे है, मीठे लगें, तो समझना चाहिए कि उसे साँप ने ही काटा है। इसका कारण यह है कि नीम के पत्ते मे भी कटुता है, जो जहरीली है और सर्प के विप में तो जहर है ही। किन्तु साप का जहर नीम के पत्तो से कई गुना अविक जहरीला है, इसलिए वे पत्ते उसे कडवे नही लगते, वल्कि मीठे लगते है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति वहुत गर्म देश का रहने वाला हो और वह कम ताप वाले देश मे आजाये तो उस देश में गर्मी होते हुए भी उसे तरी मालूम होगी। श्रीमद्जीवाभिगम सूत्र मे आया है कि यदि नरक के नेरिए को यहां मृत्युलोक में अग्नि की शय्या पर भी सुला दिया जाये तो भी उसे यहां सुख की नीद आ जायेगी। उसे यही मालूम होगा कि जैसे वह फूलो की शय्या पर शयन कर रहा है। क्योंकि मृत्युलोक की उष्णता से नरकलोक की उष्णता अनन्त गुणा अधिक है।

सज्जनो ! ठीक इसी प्रकार अत्यन्त अधिक दुःख मे रहे हुए मनुष्य को दुःख अनुभव नही होता और अधिक सुख मे रहे हुए व्यक्ति को थोडा दुःख भी वहुत अधिक प्रतीत होता है। क्योकि यह जीवन तो मोम से भी अधिक नरम है और लोहे से भी अधिक कठोर है। इसे जैसा चाहो वैसा ही वना सकते हो। तो मैं कह रहा था कि जिसे काले नाग ने इस

लिया हो—जिसे मिथ्यात्व रूपी काले नाग ने डस लिया हो और जिसकी नस-नस मे मिथ्यात्व रूपी जहर घुल गया हो—उसे हिसा ही प्रिय लगती है, उसे नीच कर्म ही अच्छा लगता है, उसे धर्मी पुरुष को देखकर और उसकी कल्याणकारी वाणी सुनकर क्रोध होता है , उपदेशदाता उसे कड़ुवे लगते है, क्योकि उसके अंदर विकार है, मिथ्यात्व का विष व्याप्त है। इसके विपरीत जो व्यक्ति मिथ्यात्व के विप से मुक्त है, उन्हे ये सारी बुरी बाते कड़ुवी ही लगती है और इन नीच कर्मो की ओर उनकी प्रवृत्ति नही होती।

भद्र पुरुषो ! इसी प्रकार यह मिथ्यात्व भी उन लोगो को प्रिय लगता है, जो धर्म के मार्ग से विमुख होकर उलटे रास्ते पर चल पडते है। सर्प का विप तो एक ही जन्म मे मारता है किन्तु मिथ्यात्व रूपी सर्प का विप तो अनेक जन्मो मे मारता है। अत पुण्यशील प्राणी का कर्त्तव्य है कि वह अपनी दृष्टि को सावधान रखे, सच्चे और झूठे का भेद समझे, धर्म मे और धर्म के उपदेशक गुरुओ मे अपनी श्रद्धा दृढ रक्खे। ससार में प्राणियो को कष्ट देने वाला और रुलाने वाला यह मिथ्यात्व ही है। आज की दुनिया मे मिथ्यात्व का बोलबाला है। एक व्यक्ति को एक तरफ मिथ्यात्व से हटाते है तो वह दूसरी ओर वैसे ही कर्म मे प्रवृत्त हो जाता है। यह मिथ्यात्व रूपी दानव केवल एक ही मुख वाला नही है। इसके तो अनेको मुख है और वह अनेक दिशा से प्राणियो का भक्षण कर रहा है।

इसी पर विचार करके ज्ञानी पुरुषो ने कहा है कि जो प्राणी मिथ्यात्व के रग मे पूर्ण रूप से रगे हुए है, जो लोग अपने जप-तप की अमूल्य साधना को केवल सासारिक वस्तुओ और सुखो की

प्राप्ति के लिए बेच देते है और चाहते है कि उनकी तपस्या का यह या वह फल उन्हे प्राप्त हो और इस प्रकार मूर्खता करके अपनी करोड़ो की सपत्ति को कौडियो में ही लुटा देते है, जो त्रस और स्थावर जीवो की धर्म के नाम पर हिसा करते है, वे सब मिथ्यात्व के पोषण करने वाले है।

इसके साथ ही साथ यह भी कहा जा सकता है कि केवल बालको को जन्म दे देना और उसके उपरान्त उनकी उचित शिक्षा और ज्ञान-प्राप्ति की ओर ध्यान न देना भी अधर्म है। आपको देखना चाहिए कि आपके बालक को उचित और सही शिक्षा मिल रही है कि नही। यदि शिक्षा मिल रही है तो वह हमारी सस्कृति और धर्म के अनुकूल है कि नही। आपके बालक कैसा जीवन व्यतीत करते है, क्या कार्य करते है, कहा जाते है, आदि बातो की ओर भी आपका ध्यान होना चाहिए। किन्तु देखा तो यह जाता है कि आपका ध्यान तो केवल इस बात पर जाता है कि बच्चे न रोटा खा ली या नही। अरे, केवल पेट भरना ही मनुष्य के जीवन का लक्ष्य नही है। बालक के सुसंस्कारो की ओर भी तुम्हारी दृष्टि होनी चाहिए। बालक तो कच्ची मिट्टी के समान है, उसे जैसा चाहो वैसा घड सकते हो, बना सकते हो। किन्तु वही मिट्टी जब आवे मे पक जाती है तो फिर उसमे किसी भी परिवर्तन की सभावना नही रहती। ठीक इसी प्रकार बालक का जीवन भी कोमल होता है। उसका निर्माण करना या विनाश कर देना आपके ही हाथ मे है। आप जिस प्रकार बालक के शरीर की रक्षा का ध्यान रखते है। देखते है कि कही उसको गर्मी या सर्दी न लग जाये, वह बीमार न पड जाये आदि, उसी तरह आपको यह भी ध्यान रखना चाहिए कि बालक के आध्यात्मिक शरीर की भी

रक्षा हो और उसका हृदय और आत्मा स्वस्थ, स्वच्छ और सबल वने ।

सज्जनो ! इस बात का सदैव ध्यान रखना कि कही आपके वालक को मिथ्यात्व का भूत आकर न निगल जाये। कही उस भूत का प्रभाव आपके वालक के जीवन को नष्ट न करदे । यदि समय रहते आप उसका ध्यान न रक्खेगे और बालक के जीवन के नष्ट हो जाने पर कहेगे कि—'महाराज ! हमारे बच्चे को सुधारो' तो हम तो तब भी अपना कर्त्तव्य निभायेगे हो, किन्तु उससे पहले आपको भी तो अपना कर्त्तव्य समझना चाहिए । वालक के जीवन को सुधारा भी जा सकता है, किन्तु यह तभी हो सकता है जब वह हमारे पास आये। लेकिन ऐसा होता नही । वह तो नाच-कूद, खेल-तमाशे और गाने-वजाने मे रस लेता है । आपको यह ध्यान ही नही है कि वह कहा जाता है, किन बातो मे रस लेता है और क्या-क्या अच्छे या बुरे सस्कार उसके मन और मस्तिष्क पर पड रहे हैं ।

सज्जनो ! सस्कार प्रबल होते है । एक बार अपना स्थान जमा लेने के बाद वे आसानी से दूर नही किये जा सकते । इसलिए ध्यान दो कि यह जो लौकिक शिक्षण आज प्रचलित है, वह भौतिक सकल्प ही उत्पन्न करता हैं । यह तो केवल उसके पेट भरने की शिक्षा है। किन्तु आत्म धर्म और धार्मिक शिक्षण तो इससे अलग है । उस धर्म के शिक्षण मे आप लोगो को वडी सावधानी से काम लेना चाहिए। आप लोग इस तरफ ध्यान न रखकर केवल यह ध्यान रखते है कि हमारे वच्चे की हमारे वैठे शादी हो जाये । हजारो रुपया भी खर्च कर देते हो, ऐसा क्यो करते हो ? नाम के लिए तो

करते हो ना। भाइयो पंजाब मे लोगो के नाम रक्खे जाते है—लक्खूशाह या पंजूशाह। लक्खूशाह नाम का अर्थ निलकता है लक्षपति यदि लक्खून अपने लड़के की शादी में अथवा मकान बनाने मे एक लाख रुपया खर्च कर दिया तो पंजूशाह जी सोचते है कि मै तो पंजूशाह हू। मै उससे पीछे क्यो रहूं, मै पाच लाख खर्च करूंगा। इस प्रकार वे पाच लाख रुपये ईंट–चूने–पत्थर का मकान बनाने मे अवश्य खर्च करेंगे, वरना उनका नाम पंजूशाह कैसा।

किन्तु सज्जनो ? वे ही लक्खूशाह और पंजूशाह अपने बच्चो के जीवन-निर्माण के लिए थोड़ा-सा भी पैसा खर्च करने को शायद तैयार हो। शादी-विवाह मे हजारो-लाखो रुपया खर्च करना, मकान बनाने मे लाखो रुपया लगाना, लेकिन बच्चे की शिक्षा और अच्छे संस्कार भरने में एक पैसा भी नही लगाना कितनी मूर्खता की बात है कोई-कोई सज्जन पैसा खर्च करके बच्चे को शिक्षा प्राप्त करने लिए विलायत भेजते है। किन्तु विलायत से लौटकर वह कितना अपने धर्म पर कायम रहता है, यह आप लोगो से छिपा हुआ नही है। वह वहा प्रायः अधार्मिक आचरण करना सीख जाता है। अंडे, मछली-शराब का सेवन करना सीख जाता है और आप गर्व करते है कि आपका बच्चा विलायत पढ आया। मेरी समझ से अपवाद-स्वरूप कोई एक ही माई का लाल ऐसा निकलता है जो अपने धर्म पर कायम रह सके। ऐसा वही होता है, जिसको घर पर आरम्भ से ही अच्छी शिक्षा दी गई हो और जिस पर अच्छे संस्कार डाले गये हो। लेकिन जिन लोगो का आचरण यहा भी बिगड़ा हुआ हो, जो यहा भी होटलो मे खाते हो, वे वहां जाकर कैसे शुद्ध रह सकते है ?

सज्जनो! व्यावर की यह इतनी वडी विरादरी है। यहाँ स्थानकवासियो के ५००-६०० घर है। किन्तु जहाँ आप इन सांसारिक कार्यो मे इतना व्यय करते है, वहा धर्म कार्य के लिए भी कुछ व्यय क्यो नही करते? यहा कोई धार्मिक सस्था क्यो नही है? आप अपने वालको मे उत्तम धार्मिक सस्कार क्यो नही डालते? उन्हे केवल किसी प्रकार लूटकर खाना-कमाना ही क्यो सिखाना चाहते है? वच्चे अलग-अलग सस्थाओ मे जाकर पढते है। जिस धर्म की वह सस्था होती है, उसी धर्म के सस्कार वालक मे पड जाते है। माता-पिता को यह पता ही नही होता कि वालक मे कैसे सस्कार पड रहे है। यह अत्यन्त खेद की वात है। यदि घर के स्वामी को ही अपने घर के विपय मे पूरा ज्ञान न हो तो उस घर का कभी कल्याण नही हो सकता।

मनुष्य जीवन दुर्लभ है। अनेक योनियो में से गुजर कर मनुष्य योनि प्राप्त होती है। मनुष्य को दिल और दिमाग मिला है। उसका समुचित रूप से सदुपयोग करना मनुष्य का कर्त्तव्य है। मनुष्य और पशु मे आखिर क्या भेद है? भेद यही है कि मनुष्य मस्तिष्क और हृदय रखता है, उनका वुद्धिमानीपूर्वक उपयोग करता है, जवकि पशु विचारशीलता से वचित रहता है। वैसे तो पशु भी दो प्रकार के होते है। एक सीग और पूछ वाले पशु और दूसरे विना सीग और पूछ के। तो मै तो यह कहने में कोई हिचक नही करता कि वे मनुष्य जिन्हे शकल-सूरत और शरीर तो इन्सान का मिला है, लेकिन जिनमे मनुष्यता नही है, वे मनुष्य के रूप मे विना सीग और पूंछ के पशु ही है। मनुष्य और मनुष्यता दो भिन्न-भिन्न वस्तुएं है। म्यान व तलवार, फूल व सुगध, कुआ और पानी, ये सव अलग-अलग है। इसी प्रकार शरीर और आत्मा

भी दो पृथक्-पृथक् वस्तुएँ है। मनुष्य का शरीर मिल जाने पर, सूरत और शकल मिल जाने पर सांसारिक लोग उस प्राणी को मनुष्य कहते है। किन्तु सज्जनो ! केवल मनुष्य-शरीर प्राप्त हो जाने से ही मनुष्य पूर्ण नही होता। जब उसमे मनुष्य शरीर के साथ मनुष्यता भी आयगी तभी वह पूर्ण मनुष्य कहलाने का अधिकारी हो सकेगा।

सज्जनो ! प्राप्त हुई वस्तु का और साधनो का सही उपयोग करना भी अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा उनका कोई मूल्य नही रहता। मनुष्य को यदि कान मिले है तो वे भगवान् को, गुरुजनों को, ज्ञानियो की कल्याणकारी वाणी सुनने के लिए मिले है, न कि किसी की निन्दा या चुगली आदि सुनने के लिए। यदि तुम इन कानो से निन्दा और चुगली सुनोगे तो नरक मे जाकर इनमें गर्म-गर्म शीशा डलवाना पड़ेगा और जन्म-जन्मान्तर तक बहरेपन का दु.ख भोगना पड़ेगा। इसी प्रकार ये आंखे मिली है तो धर्मशास्त्र पढ़ने के लिए और गुरुदर्शन करने के लिए इसलिए, नही मिली कि उनसे पराई बहू-बेटियो पर कुदृष्टिपात किया जाये। ये आखे इसलिए मिली है कि इनसे किसी दु खी प्राणी को देखकर उसपर दया की जाये। उन आखो का क्या उपयोग कि जिनसे तड़पते हुए दु.खी लोग न दिखाई दे ? वे कान भी किस काम के जिनसे दुखियो की पुकार नही सुनी जाये ?

उपस्थित सज्जनो ! आज भगवान को पूछने वाले तो बहुत से है किन्तु भगवान् के भक्तो को पूछने वाले बहुत कम है। यह प्रश्न पूछने वाले तो बहुत है कि भगवान् कहा रहते है, उनका क्या स्वरूप है, वे कैसे प्राप्त हो सकते हैं। किन्तु यह पूछने वाले

बहुत थोड़े है कि भगवान् के भक्तो का क्या हाल है ? वे सुख मे है कि दुःख मे ? अरे, जिसने भगवान् के दुखी भक्तो को नही देखा, वह भगवान् के दर्शन भी नही कर सकता। जिस अहकारी मनुष्य को इतने बड़े शरीर वाला मनुष्य ही दिखाई न देता हो, उसे निरजन, निराकार रूप भगवान् कैसे दिखाई दे सकते है ? अत जो भगवान् के दर्शन करना चाहता हो और उनसे मिलना चाहता हो, उसे पहले भगवान् के भक्तो के दर्शन करने चाहिए और उनकी सेवा करनी चाहिए।

अब यह प्रश्न उठता है कि भगवान् कहा रहता है ? भगवान् मदिर, मस्जिद, गिरजाघर, गुरुद्वारे या स्थानक मे नही है। भगवान् तो दीन और दुखियो की झोपड़ियो मे रहता है। वह सेठो और राजाओ के महलो मे नही रहता बल्कि व्यथित और पीडित जन-समुदाय के हृदयो मे रहता है। अज्ञानी भक्त लोग अनेक प्रकार के भजनो और प्रार्थनाओ से भगवान् को प्रसन्न करने की कोशिश करते है और कहते है कि—हे भगवान्। तुम मेरे मनरूपी मदिर मे क्यो नही आते हो ? मै घटे भर तक घंटाल बजाता हू, मन्त्र पढता हू, और ज़ोर-ज़ोर से प्रार्थना करता हू, फिर भी तुम मेरे हृदय मे क्यो नही आते हो ? किन्तु उन भक्तराजो को यह जानना चाहिए कि भगवान् बहरे नही है कि —

"कीड़ा के पग नूपुर बाजे तो भी साहेब सुनता है।"

तो सज्जनो ! भगवान् तो अन्तर्यामी है। वे सब के मन की बात को जानते है। उन्हे ज्योति जगा-जगाकर गाने से क्या प्रयोजन, उनकी ज्योति के सन्मुख तो करोडो सूर्य, चन्द्रमा और तारे भी फीके पड जाते है। ऐसे ज्योतिस्वरूप भगवान् के सन्मुख तुम्हारे

गैस के हण्डे और मोमबत्तिया किस काम की ? रोशनी तो उसे दिखानी पडती है, जिसे दिखाई नही देता। तो क्या भगवान् को भी नज़र नही आता? ज्ञानी पुरुषो ने कहा है कि जिनकी दिव्य ज्ञान की रोशनी अनन्त प्रकाश रूप है, उसको तुम्हारी रोशनी की क्या आवश्यकता ? जिसको लोग सारे ससार को खिलाने वाला मानते है, उसे तुम लोग फिर क्या खिला सकते हो ? ससार के लोगो ! मै आपसे यह कहने जा रहा था कि भगवान् तो सब जगह है और सबके समीप है। वह कही बाहर से आने वाले नही है, हमारे भीतर ही है। किन्तु वह महबूब भगवान् हमे दिखाई इसलिए नही देता है कि हमारी आखो पर राग और द्वेष तथा अज्ञान का परदा पडा हुआ है। तेली का बैल देख तो सकता है, किन्तु स्वार्थी तेली उसे देखने नही देता। इसी प्रकार स्वार्थी पडित, मौलवी और साधु, जोकि दभी, पाखडी और स्वार्थी है, फिर चाहे वे जैन साधु ही क्यो न हों, लोगो की दृष्टि को अपने स्वार्थ के साधन के लिए ऊची कर देते है। ऐसे ऐसे धर्मगुरु न तो स्वय अपना ही कल्याण कर सकते है और न किसी दूसरे का ही।

तो कवि का कथन है कि भगवान् इसी वजह से दिखाई नही पडता। हमारी दृष्टि की सीमा मे वह अब भी है और भविष्य में भी रहेगा। हम उसे जब चाहे, देख सकते है और प्राप्त कर सकते है। किन्तु यह तभी सभव है जबकि हमारी आखो पर राग-द्वेष की पट्टी न बधी हो। आखो वाले के लिए सूर्य और चन्द्रमा है, उनका प्रकाश है। वह चाहे तो उनका लाभ ले सकता है। किन्तु जिसकी आखे ही ऊची है, उसे सूर्य और चन्द्रमा भी कोई लाभ नही दे सकते। सूर्य और चन्द्रमा और चश्मा, सब उसी के उपयोग के हो सकते है, जिसको स्वय की आखो मे ज्योति हो।

विना इस रोशनी के कोई लाभ नही हो सकता। ठीक इसी प्रकार जिसकी आखो पर मिथ्यात्व की पट्टी बधी है, उसे भगवान् के दर्शन हो ही नही सकते। अत उसे कही ढ ढने जाने की तो आवश्यकता है ही नही। कहा है —

"सर्वव्यापक है तो घर में ही बैठे मिलेंगे किशोर।
ढूंढ़ती दुनिया फिरे, हम तो कहीं जाते नही ॥"

आज संसार मे स्वार्थी लोग भगवान् को अपने घर तो बुलाना चाहते है, किन्तु भगवान् के भक्तो को पूछते भी नही। भक्त को भोग न लगाकर भगवान् को भोग लगाते है। अरे, यह तो मामूली-सी सोचने की वात है कि जिसे किसी वस्तु की आवश्यकता ही नही है, जो निर्विकार और निराकार है, जो निष्कलक और निराधार है, उसे किस आधार की आवश्यकता हो सकती है ? उसे न भूख लगती है, न भोजन की आवश्यकता होती है। वह तो इन सबसे परे है। किन्तु यहा तो भगवान् के नाम पर स्वय ही गुलछर्रे उड़ाये जाते है, अपना ही उल्लू सीधा किया जाता है। इस विषय मे मै कहा तक कहू, स्वार्थी और मूर्ख लोगो ने भगवान् को बदनाम ही करना आरभ कर दिया है। वे भगवान् का विवाह भी रचाते है और उन्हे शय्या मे शयन कराते है। किन्तु मेरी समझ मे यह नही आता है कि इस प्रकार के कार्यो का क्या अर्थ है और भगवान् का विवाह क्या रग लायेगा ?

सज्जनो ! ये सव विडम्वनाए है। मै उन भक्तो से यह प्रश्न करना चाहूगा कि भगवान् निर्विकारी है कि सविकारी ? उनके हृदय मे काम, क्रोध है कि नही ? यहा सभी धर्मो के लोग उपस्थित है—मुसलमान, आर्यसमाजी, सनातनी और सिक्ख।

मैं सबसे पूछता हूँ कि भगवान् निर्विकारी है या सविकारी ? अरे भाई, वह तो अकाल पुरुष है। सिक्ख लोग नारा लगाते है—"सतश्री अकाल, जो बोले सो निहाल।" यह उनका बुलद नारा है। यह भगवान् की, खुदा की तारीफ है। इसका अर्थ है कि भगवान् सत्य रूप है और श्री अर्थात् लक्ष्मी रूप है। दुनियां मे यदि वास्तव में कोई लक्ष्मी है, निधि है, तो वह भगवान् ही है। उनके अलावा अन्य सब व्यर्थ हैं, प्रवंचना है। जिस धन को तुम समेटे बैठे हो, वह तो नष्ट हो जाने वाला है, समाप्त हो जाने वाला है। किन्तु भगवान् तो वह निधि है, वह सपत्ति है, जो कभी क्षय नही हो सकती। भगवान् तो सत्य है, मिथ्या नही है। सत्य किसे कहते है? सिक्खो के ग्रन्थो मे लिखा है—"आदि सच्च, जुगादि सच्च नानक होसी भी सच्च।" भगवान् सत्य रूप था, सत्य रूप है और सत्य रूप ही रहेगा। वह कभी नष्ट होने का नही है। जो भगवान् भी बन सकता है और नष्ट भी हो सकता है, वह तो भगवान् नही, कोई बनावटी खिलौना है। उससे तो बच्चो को ही बहलाया जा सकता है। किन्तु ऐसा तो है नही। भगवान् तो अजर-अमर है और समस्त उपाधियो से परे हैं।

तो उपस्थित सज्जनो। भगवान् तो सत्य है, लक्ष्मी रूप है, और अकाल है, अर्थात् उनके लिए काल ही नही है, वे काल से परे है। न वे जन्म लेते है। न मरते है। जो जन्म लेता है और मृत्यु को प्राप्त होता है, वह तो हमारी ही बिरादरी का हो गया, उसमे ईश्वरत्व फिर कहाँ रहा ? तो ऐसे सत्य, श्री, और अकाल रूप भगवान् का जो नाम लेते है, वे निहाल हो जाते है। हिन्दू शास्त्र में उसे कहते है—"सत्, चित् और आनन्द स्वरूप।" इन दोनो कथनो मे केवल शब्दो मे थोड़ा-सा फर्क हो

गया है किन्तु भावो मे तनिक भी फर्क नही है। उधर श्री और अकाल शब्द आये है तो इधर चित् और आनन्द शब्द आये हे। अर्थ एक ही है। जैसे पानी को चाहे अप् कहो, या वाटर, नीर, सलिल, जल या वारि कहो, अथवा आव कहो, किन्तु पानी पानी ही रहेगा, उसमे कोई अन्तर नही आयेगा। इसी तरह खुदा कहो, परमात्मा कहो, ईश्वर कहो, राम कहो, जिन कहो या रहीम कहो— कुछ भी कहो और चाहे जो सम्वोधन कहो, ईश्वर ईश्वर ही है और ईश्वर रहेगा।

राग-द्वेष को जिसने जीत लिया है, वह जिन कहलाता है। जो सव जगह रमण करता है—जड़ और चेतन मे, जल और स्थल मे जो ज्ञान भाव से रमा हुआ है, वह राम कहलाता है। जो ऐश्वर्य-शाली है, अर्थात् जो आत्मीय गुणों के ऐश्वर्य का स्वामी है, वह ईश्वर कहलाता है। इसी तरह खुदा वह हैजो खुद ही है, जिसे किसी की सहायता की, पनाह लेने की आवश्यकता नही है। और सारी दुनिया जिसकी पनाह लेती है। इस प्रकार सज्जनो ! ईश्वर का तो यह स्वरूप है, इसे जो ठीक-ठीक समझता है, उसे फिर अन्य कोई सांसारिक रूप या वस्तु भाती नही।

तो मै आपसे कह रहा था कि आज भक्तो ने भगवान् को अपने ही जैसा वनाने मे कोई कसर नही रख छोडी है। वे भगवान् का विवाह भी रचाने लग गये है। अरे, विवाह तो उसका होता है जिसे भोग की इच्छा होती है। आग वही तापता है जिसे सर्दी लगती है। जिसे भूख होगी, वही भोजन करेगा। जो प्यासा होगा, वही पानी पियेगा। विना भूख के खाने वाला, विना प्यास के पीने वाला और विना सर्दी लगे आग तापने वाला वुद्धिमान् नही कहा

जा सकता। इसी प्रकार जिसमें वासना और कामना होती है, वही शादी करता है। तुम तो स्वय इस मर्ज के मरीज थे ही, किन्तु तुमने तो भगवान् को भी अपने ही जैसा बना लिया! उसे झूले मे झुलाया जाता है। अरे, वह तो समस्त सृष्टि का स्वामी है, क्या उसे बालकों की तरह झुलाये जाने की और लोरियाँ सुनाने की क्या आवश्यकता है? उसे थपकियां देकर बहलाया जाता है। किन्तु भगवान् तो न रोते है, न हसते है और न सोते ही है। रोना-हंसना तो मोहनीय कर्म का फल है। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा ये सब मोहनीय कर्म के उदय से ही होते है। भगवान् तो इन सबसे परे हैं।

सज्जनो! आपको चाहिए कि आप भगवान् को अपने जैसा न बनाकर स्वय भगवान् के समान बनने का प्रयत्न करे। तभी आपका कल्याण हो सकता है। किन्तु होता इससे उल्टा ही है। आप लोग तो भगवान् को भी अपने ही समान कामी, क्रोधी और राग-द्वेषमय बनाना चाहते है। आप भले ही यह प्रयत्न करें, किन्तु वह तो आपके बंधन में बधनेवाला नही है।

तो मैं कहा रहा था कि यदि आप भगवान् को रिझाना चाहते है तो आपको उसके भक्तो को रिझाना चाहिए। भक्तो की सेवा से ही भगवान् प्रसन्न होते है। कहा है :—

"ज्यांका बाल खिलाइये, ताका रीझे बाप"

जिसके बच्चों को खिलाओगे, उसका बाप प्रसन्न होगा। किन्तु आज तो भक्त लोग भगवान् के बालको को तो चूटिया भरते है और भगवान् को प्रसन्न करना चाहते है। यह असंभव है कि तुम बाग को तो नष्ट करो और उस बाग के माली को ऐसा

कर प्रसन्न करना चाहो तो क्या ऐसा हो सकता है ? इसी प्रकार भक्तों को प्रसन्न किये वगैर तुम भगवान् को भी प्रसन्न नही कर सकते। यदि वास्तव मे तुम भगवान् की सेवा करना चाहते हो तो उनके भक्तो की सेवा करनी होगी। कहा है —

"इबादत करते है जो लोग जन्नत की तमन्ना के लिए,
इबादत तो नहीं है यह एक तिजारत है।"

सज्जनो! दीन की सेवा ही दीनवधु की सेवा है। दु खी की सेवा से ही भगवान् की सेवा होती है। भगवान् सबका रक्षक है, दीनवंधु अर्थात् दीन-दुखियों का भाई है। अत जो मनुष्य की सेवा करता है, मूक प्राणियो की सेवा करता है, भगवान् की ही सेवा करता है। और भगवान् उसी को प्राप्त होते है जो दीनो की सेवा और रक्षा करता है।

एक समय एक मदिर मे एक सोने का थाल उतरा। उस थाल मे लिखा हुआ था कि यह उसी को मिलेगा कि जो भगवान् का असली भक्त होगा। यदि नकली भक्त इस थाल को हाथ लगा देगा तो वह काच का हो जायगा। अब जब इतने कीमती और सुन्दर थाल को प्राप्त करने का प्रश्न आया तो जिधर देखो उधर भगत ही भगत नज़र आने लगे। जिस प्रकार वरसात मे एकाएक मेढक निकल आते है, उसी प्रकार सब तरफ भक्त दिखाई पडने लगे। कोई सध्या करने लगा। कोई गीता, कोई उपनिषद्, कोई गोपाल सहस्र नाम का और कोई हनुमान चालीसा का पाठ करने लगा। गर्ज़ यह कि सब तरफ भक्तो के आसन लग गये। किन्तु उन सबके हृदय मे लालसा उस सोने के थाल को प्राप्त करने की ही थी। इतना ही नही, लोगो ने दानशालाएं

खोल दी, मालाए फेरनी आरम्भ करदी और इसी प्रकार के अनेक पुण्य कार्य करने आरम्भ कर दिये । इसी प्रकार और सारे काम-धधे छोड़कर सब लोग ईश्वर से प्रार्थना करने लगे कि हे भगवान् ! थाल हमें मिल जाय । मदिर के चारो तरफ, आसपास, और सीढियों पर भीड़ लग गई । भक्त लोग समाधि लगाकर बैठ गये । भक्तो के झुंड के झुड प्रभु के दर्शन के लिए मंदिर मे जाने लगे, रास्ते सब बंद हो गये । एक चौराहे पर, जिधर से होकर भक्त लोग मदिर में जाते थे, एक रोगी, जिसके शरीर में फोडे फुसिया हो रही थी,पीव बह रही थी और मक्खिया भिनभिना रही थी, भूखा और प्यासा पडा हुआ कराह रहा था । किन्तु जितने भक्त उधर से निकलते थे,वे उसे ठोकर मारकर या घृणा से उसकी तरफ से मुह फेरकर चले जाते थे । उसकी भूख और प्यास को मिटाने वाला कोई माई का लाल नही था । सारे भक्त लोग भगवान् को देखने के लिए मदिर मे तो जा रहे थे किन्तु भगवान् के भक्त को पूछने वाला उनम कोई भी नही था । हरेक को जल्दी थी और सब एक-दूसरे से पहले मदिर मे पहुचना चाहते थे । सभी यह चाहते थे, वे पहले जाकर भगवान् की आरती करे और भगवान् उनपर प्रसन्न होकर वह सोने का थाल उन्ही को दे दे । लोगो ने भगवान् की मूर्त्ति पर इतने फल-फूल और मिष्ठान्न चढाए कि उनका कही पता ही नही लगता था । वे सब लोग अपनी धुन मे चले जा रहे थे, किन्तु उन्हे साढे तीन हाथ का जीवित पुतला दिखाई ही नही दे रहा था । वह बेचारा रोगी मनुष्य चिल्ला रहा था कि मै भूखा हू, प्यासा हू, दुखी हू, मुझ पर दया करो ।

सज्जनो ! सोने के थाल की आवाज़ तो सभी को सुनाई दे रही थी, इसलिए उस दुखी की भावना किसी को क्यो सुनाई देने

लगी। हज़ारों लोग उधर से गुजर गये, किन्तु किसी की दृष्टि उस पर नहीं पड़ी। किसी ने उसके दुःख की कहानी न सुनी। अकस्मात् एक ज़मीदार किसान भी उधर से भगवान् के दर्शन करने के लिए जा रहा था। सज्जनो! आप जानते ही हैं कि हमारी भारतीय सस्कृति सदैव अध्यात्म-प्रधान रही है। लोगो को परमात्मा के प्रति श्रद्धा और निष्ठा रही है, फिर चाहे वह उचित हो या अनुचित। तो वह जमीदार किसान भी भगवान् को भोग लगाने के लिए अपनी शक्ति के अनुसार थाली मे दूध, फल पानी इत्यादि लेकर जा रहा था। ज्यो ही वह उस चौराहे से गुजरा, जहा वह रोगी कष्ट मे पडा हुआ कराह रहा था, उसे उसकी करुण पुकार सुनाई दी। उसके पाव तुरन्त वहां रुक गये। वह उस रोगी के समीप पहुचा और करुणा से उसका हृदय भर आया। उसके पावो ने आगे चलने से इनकार कर दिया और हृदय दया से अभिभूत हो गया। उसने सोचा कि यह मनुष्य है, लाचार है और कष्ट मे है। इतने लोग इधर से गुजर गये किन्तु किसी ने इसकी ओर ध्यान भी नही दिया। उसका हृदय दया से उमड़ पडा। वह जल, जो वह भगवान् के अभिषेक के लिए लाया था, उसने उस रोगी को पिला दिया और जो भी फल-फूल वह भगवान् के लिए लाया था, वह भी उसने दया और प्रेम से उसे खिला दिये।

सज्जनो! वह किसान उस रोगी की सेवा मे ही लग गया और सोचने लगा कि मुझे तो मन्दिर मे जाने से पहले ही भगवान् मिल गये। उस रोगी को उठा कर वह अपने घर ले गया और तन-मन से उसकी सेवा मे निरत हो गया। उसने जी जान से सेवा की किन्तु इसलिए नही कि उसे सोने का थाल मिल जाये। दूसरे भक्त तो सोने के थाल के लोभ मे अपना भक्तिभाव प्रदर्शित

कर रहे थे किन्तु वह किसान तो सोच रहा था कि उसे नर के रूप मे साक्षात् नारायण ही मिल गये है । और है भी यह सत्य ही—

"बंदा नहीं तू सचमुच खुदा है, बस एक नुक्ते से हुवा जुदा है ।
वह नुक्ता खुदाई जुदाई का गर मिटादे खुदाई—
फिर तू खुद ही खुदा है ।।"

सज्जनो ! केवल एक नुक्ते का ही तो फ़र्क है । वह एक नुक्ता यदि ऊपर चला जाय तो खुदा और नीचे चला जाय तो जुदा हो जाता है । तो वह किसान तो यही सोच रहा था कि मुझे नर के रूप मे नारायण ही मिल गये है और मै नारायण की ही सेवा कर रहा हू । धीरे धीरे वह रोगी साल-छह महीने मे नीरोग हो गया । उस किसान का एहसान मानकर वह वहा से चला गया । उसके जाने से उस किसान को वड़ा दुःख हुआ, क्योकि वह तो उसे साक्षात् नारायण ही समझ रहा था और उसकी सेवा कर रहा था ।

किन्तु सज्जनो ! सेवा का फल, सच्ची और स्वार्थरहित सेवा का फल, अवश्य ही प्राप्त होता है । उस गरीव के चले जाने पर आकाशवाणी हुई कि भगवान् का सच्चा भक्त वह जमीदार है । सारे भक्त लोग जो स्वार्थ-प्रेरित थे, हाथ मलते रह गये । उनके झूठे जप-तपापि व्यर्थ गये । और अन्त मे देवदूत द्वारा वह सोने का थाल उस किसान को ही दिया गया ।

अत सज्जनो ! जो दीन-दुखियो की सेवा करता है, वही दीनबंधु का सच्चा सेवक और भक्त है । केवल मुख से राधेश्याम-राधेश्याम की रट लगाना ही पर्याप्त नही है । मनुष्य जन्म पाकर मनुष्य की सेवा करनी चाहिए । दुखियो के दु ख का निवारण

करना ही मनुष्य का सच्चा कर्त्तव्य है। हमे बिगडी हुई को बनाना चाहिए न कि बनी हुई को बिगाडना। मनुष्य तो स्वयं सर्वशक्तिमान् है। उसके लिए सभी दरवाजे खुले हैं। वह चाहे तो स्वयं परमात्मा बन सकता है। अथवा चाहे तो पापकर्म करके नरक मे जा सकता है। यह सब कर्म पर निर्भर है। अत. भद्रपुरुषो! भोगो की प्राप्ति के लिए जप-तपादि करना छोड़ो। जीवहिंसा का पाप मत करो। आत्मकल्याण का यही मार्ग है कि मिथ्यात्व का त्याग किया जाये और निस्वार्थ भाव से धर्म-क्रियाए करके ससार समुद्र से पार उतरा जाय।

ब्यावर
२८-८-५६

: २ :

क्षेत्र-शुद्धि

वीरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो वीरं बुधाः संश्रिताः,
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्यं नमः ।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुल वीरस्य घोरं तपो,
वीरे श्रीवृतिकीर्तिकान्तिनिचय. हे वीर ! भद्रं दिश ॥

× × ×

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिंताः सिद्धाश्च सिद्धिस्यिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराः पूज्या उपाध्यायकाः ।
श्रीसिद्धान्तसुपाठका मुनिवरा रत्नत्रयाराधकाः,
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

धर्मबन्धुओ और बहिनो !

जो जीव सम्यक्त्व प्राप्त करना चाहते है, उनका जीवन क्षेत्र बहुत पवित्र होना चाहिए । आप जानते है कि जब तक भूमिगत दोष विद्यमान रहते है, जो बीज के उगने में और उसके फलने-फूलने मे बाधक होते हैं, उन्हे दूर न कर दिया जाय, तब तक बीज उग नही सकता । और कदाचित् उग भी जाय तो वह पनप नही सकता । अतएव समझदार किसान सर्वप्रथम ज़मीन के दोषो को दूर करने का प्रयत्न करता है । इसी प्रकार समकित रूपी बीज को पनपाने के लिए भी बाधा और रुकावट डालने वाली चीज़ो को दूर कर देना आवश्यक है ।

प्रश्न होता है कि सम्यक्त्व के बाधक दोष क्या-क्या है ? जिस किसान को यह ज्ञात नही है कि कौन-कौन से पदार्थ पौधे के उगाने मे बाधक है और कौन-कौन-सी चीजें उसे बढने मे बाधा पहुंचाती है और पुष्प नही होने देती, वह किसान कभी तरक्की नही कर सकता। इसी प्रकार जो तत्व सम्यक्त्व के बाधक और विरोधी है, उन्हे समझ कर जब तक दूर नही कर दिया जाता, तब तक सम्यक्त्व का पौधा उग नही सकता। कदाचित् उग जाय तो पनप नही सकता।

ज्ञानी जन इस तथ्य को भलीभांति जानते है। इसी कारण उन्होने समकित के बाधक तत्वो का और दोषो का भलीभाति निरूपण कर दिया है। साथ ही उन्होंने यह भी घोषणा कर दी है कि सम्यक्त्व की प्राप्ति और पुष्टि मे बाधक तत्वो को अपनी भावना से, वाणी से, काया से निकाल दो। ऐसा करने पर तुम्हारा सम्यक्त्व अबाध गति से फलेगा, फूलेगा और विकसित होगा।

तो सम्यक्त्व के मुख्य रूप से तीन दोष है। जहा ये तीन दोष विद्यमान होते है, वहा आत्मा का विकास रुक जाता है। उन तीन दोषो मे पहला मिथ्यात्व है, जो बड़ा ही शक्तिशाली दोष है और जो आत्मा के प्राथमिक विकास को भी अवरुद्ध कर देता है।

ज़मीदार बार-बार ज़मीन मे बीज बो रहा है। उसे इस प्रकार बीज बोते-बोते एक नही, अनेक जन्म व्यतीत हो चुके है, मगर अभी तक उसे उस बीज के मधुर फल प्राप्त नही हो सके। कारण यही कि बीज की शक्ति को नष्ट करने वाले जो तत्व थे, उसे उनका ज्ञान नही हो सका। इसी प्रकार सम्यक्त्व का सब

से अधिक बाधक तत्व मिथ्यात्व है। जब तक यह आत्मा रूपी क्षेत्र में विद्यमान रहेगा, सम्यक्त्व का बीज उग ही नहीं सकता।

यह सर्वविदित है कि जिस जमीन में कठोरता होती है, सख्ती होती है और जब तक प्रसाधनो द्वारा उसमें कोमलता नहीं ले आई जाती, तब तक एक दाने की तो बात ही क्या, हजारो मन दाने डाल देना भी निष्फल है। वे अकुर रूप में परिणत नहीं हो सकते। किन्तु जब मिट्टी मुलायम हो जाती है और जमीन पोली हो जाती है, तब किसान को बीज बोने का और परिश्रम करने का मजा आ जाता है। उसका सब श्रम सफल होता है और वह निहाल हो जाता है।

इसी प्रकार आत्मा रूपी खेत मे जब तक मिथ्यात्व रूपी पत्थर मौजूद है, तब तक समकित का बीजांकुर उत्पन्न नही हो सकता। उस दशा में कितना ही बीज क्यो न बोया जाय, वह व्यर्थ जाता है, अर्थात् की हुई समस्त क्रियाएं मोक्ष-फल नहीं दे सकती।

सम्यक्त्व का दूसरा बाधक तत्व निदान—नियाणा है। निदान का अर्थ है भोगो की आकाक्षा। जप, तप ध्यान, अनुष्ठान करने के फलस्वरूप सासारिक भोगो की कामना करना निदान है। जिसे कठोर तपस्या आदि क्रियाओ से मोक्ष रूपी अमर फल मिलना चाहिए था, उसे तुच्छ, दु खमय, निस्सार भौतिक सुख की याचना मे बेच देना निदान नामक दोष है।

तीसरा दोष हिंसा है।

इस प्रकार यह तीनो दोष हमारे आत्मविकास मे बाधक है। यह दोष हमें धन्य नही बनने देते। हमारा भाग्य नही खुलने देते।

और भाग्यहीन की क्या दशा होती है, यह तो एक लोकोक्ति से स्पष्ट है—

'भाग्यहीन नर खेती करे, बैल मरे या सूखा पेरे।'

अभागा किसान खेती करता है तो या तो उसका बैल मर जाता है या अनावृष्टि हो जाती है। तो इसी प्रकार आत्मा को अनन्त काल क्रियाए—कठोर साधनाए करते गुजर गया, मगर खेती नही पक सकी। बीज डालते रहने पर भी उस अभागे की भूख न मिट सकी। वह भूखा का भूखा रहता आ रहा है।

सम्यक्त्व का तीसरा बाधक तत्व हिंसा है। आज जीवहिंसा-कार्यों को भी धर्म माना जा रहा है। किन्तु ऐसा मानने वालो को पता नही कि उनकी यह विपरीत मान्यता ही सम्यक्त्व को नही पनपने दे रही है। इस तरह हिंसा मे पाप मानने के बदले धर्म मानना एक महान् दोप है और यह दोष सम्यक्त्व के लाभ मे बाधक बनता है।

यह तीन दोष सम्यक्त्व की प्राप्ति मे बाधक है। जिस जीव का इन तीनो दोषो के साथ प्राणान्त हो जाता है, वह जहा कही भी जन्म लेता है, उसे सम्यक्त्व का मिलना दुर्लभ हो जाता है। इस प्रकार मार्ग-प्रदर्शन करते हुए ज्ञानी पुरुषो ने बतला दिया है कि यह तीनो दोप सम्यक्त्व की प्राप्ति मे बाधक है। शास्त्र मे कहा है —

मिच्छादंसणरत्ता, सनियाणा उ हिंसगा।
इय जे मरंति जीवा, तेसिं पुण दुल्लहा बोही ॥

—उत्तराध्ययन, अ० ३६, गा० २५५

यहा प्रश्न किया जा सकता है कि इन तीनो दोपो से संयुक्त जीव को समकित की प्राप्ति नही होती , क्योकि यह तीनों भूमिगत दोप है , किन्तु जिसने भूमिगत दोपो को दूर कर दिया है और भूमि को साफ-सुथरा और मुलायम वना लिया है, उसे तो सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है न ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि—हा, भाग्यवान् को लहलहाती खेती प्राप्त होगी, किन्तु भाग्यहीन को तैयार भोजन मे भी वाधा आ उपस्थित होगी ।

तो समकित की प्राप्ति किसे होती है ? कहा है :—

सम्मद्दंसणरत्ता, अनियाणा सुक्कलेसमोगाढा ।
इय जे मरंति जीवा, तेसिं सुलहा भवे वोही ।।

—उत्तरा० अ० ३६, गा० २५६

जिस व्यक्ति के घर मे शानदार रसोई पकती है, वह कही वाहर भी जाता है तो उसका तदनुरूप ही स्वागत-सत्कार होता है । क्योकि सभी को विदित रहता है कि यह भूखा नही है, इसका घर भरा-पूरा है और इसे सव साधन सुलभ है । इस कारण सभी लोग उसकी खातिर करते है । उसके घर मे तवा चढ़ता है तो वाहर लोग उसके लिए कढाई चढाते है, अर्थात् उसका सत्कार करने के लिए मिष्ठान्न वनाते है । किन्तु जिसके घर मे ही चूल्हा ठडा पडा है, समझो वाहर भी उसके लिए राख उड़ रही है ।

इसी प्रकार जिसका यह जन्म उत्तम है, उसका आगामी जन्म भी उत्तम होगा ।

जैसे गर्म दूध मे जामन डाल दिया जाता है तो धीरे-धीरे वह जम कर दही के रूप मे परिणत हो जाता है । तो जिस प्रकार तरल दूध को जरा-सा जामन भी ठोस वना देता है, परन्तु कदाचित्

काजी का जामन डाल दिया जाय तो दूध फट जाता है, इसी प्रकार समकित रूपी जामन अगर आत्मा मे लग जाता है तो आत्मा का कल्याण हो जाता है। ऐसा जीव अर्ध पुद्गल-परावर्त्तन मे अवश्य ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

कहा जा सकता है कि अर्ध पुद्गल-परावर्त्तन काल भी तो बहुत लम्बा होता है। सम्यक्त्व प्राप्त कर लेने पर भी अगर इतना अधिक भटकना पडा तो सम्यक्त्व प्राप्त करने से लाभ ही क्या हुआ ? इसका उत्तर यह है कि सम्यक्त्व से बडा लाभ है। जिस जीव ने सिर्फ एक अन्तर्मुहूर्त्त भर के लिए सम्यक्त्व पाया है और फिर वमन कर दिया है, वह भी अनन्त ससारी नही रहता। सम्यक्त्व प्राप्ति से पहले जीव के भवभ्रमण की कोई सीमा नही थी। मगर एक वार सम्यक्त्व प्राप्त करने से काल की सीमा निर्धारित हो गई। सम्यक्त्व से यह महान् लाभ है।

जो घर मे पूजा जाता है, वह वाहर भी पूजा जाता है। जब समकित प्राप्त हो जाती है तो आगे से आगे उसकी समकित पनपती जाती है। प्राय. आगामी भव मे भी उसी को सम्यक्त्व प्राप्त होगा, जो इस जन्म में सम्यक्त्व के रग मे रग गया है। जो सच्ची श्रद्धा मे, भगवान् वीतराग की वाणी मे रंगे हुए है, दृढ विश्वासी है तथा जिन्होने मिथ्यात्व के विष का वमन कर दिया है, उन्हे अवश्य सम्यक्त्व प्राप्त होता है। क्योकि रग का स्वभाव चढने का है। जैसे रग मे कपड़े डालोगे वैसा ही रग चढ जायेगा। इसी प्रकार आत्मा को जैसी-जैसी श्रद्धा के रंग मिलते है, वैसा-ही-वैसा रग चढ जाता है।

ज्ञानी पुरुषो का कथन है कि मिथ्यात्व के रग मे रगने वाले तो अनन्त जीव है, पर सम्यक्त्व के रग मे रगने वाले विरले ही

प्राणी होते है । जब मिथ्यात्व का अत्यधिक क्षयोपशम होता है, तभी समकित की प्राप्ति होती है । किन्तु वह पक्का रग एक बार चढ़ जाता है तो फिर उतरता नही है । रंग कच्चा भी होता है जो एक बार धुलने से ही उतर जाता है । इसी प्रकार कोई-कोई सम्यक्त्व भी ऐसा होता है कि एक बार प्रादुर्भूत होकर पुन. चला जाता है । जैसे आप अपनी पगडी पर कच्चा रग चढा लेते है और एक बार धोकर उसे उतार भी लेते है, इसी प्रकार एक सम्यक्त्व ऐसा भी है जो आता है और थोड़ी-सी देर में चला भी जाता है । वह सम्यक्त्व एक भव में ९०० बार आता और जाता है । मगर पक्के रंग को उतारना कठिन होता है । वह रग धोबी की भट्टी पर चढने पर भी नहीं छूटता । कच्चे रग के समान जो सम्यक्त्व है, वह ९०० बार चढकर उतर जाता है । थोडा-सा मिथ्यात्व का संसर्ग मिला नही और कोई प्रलोभन या आकर्षण हुआ नही कि उसे उतरते देर नहीं लगती ।

वसन्त पंचमी आती है तो पुरुष प्राय. अपने कुर्त्ते, टोपी या पगड़ी केसरिया—हल्के पीले रग मे रंग लेते है और महिलाए अपने ओढने-दुपट्टे भी पीले रग लेती है और उस समय सरसो भी पीले-पीले रग के मनोहर फूलो से सुहावनी दिखाई देती है, मगर वह चढाया हुआ रग कच्चा होता है । उसे जब चाहा चढा लिया और जब चाहा, उतार लिया । वह कच्चा पीला रग तो त्योहार मनाने के लिए ही चढ़ाया गया था, अत जब त्योहार निकल गया तो फिर उस रंग को भी उतार कर दूसरे रग मे वस्त्र को डुबकी दे सकते हो । किन्तु एक रग ऐसा पक्का होता है कि एक बार चढकर फिर उतरता नही । कपड़ा फट जायेगा, पर रग नही उतरेगा । वह रग होता है मजीठी । इसी प्रकार

सम्यक्त्व भी एक ऐसा होता है जो उत्पन्न तो होता है, मगर फिर नष्ट नही होता। वह क्षायिक सम्यक्त्व के रूप मे आता है और फिर जाना नही जानता। क्षायिक सम्यक्त्व के प्रभाव से आत्मा उसी भव मे या अधिक से अधिक तीसरे भव मे मुक्ति प्राप्त कर लेता है। उसकी स्थिति सादि अनन्त है। क्षायिक सम्यक्त्व से विभूषित आत्मा जहा भी जाता है, समकित उसके साथ ही रहता है और अन्त मे उस आत्मा को मोक्ष मे पहुचा देता है।

क्षायिक सम्यक्त्व का वह पक्का रग ऊपरी नही होता। वह इतना आन्तरिक होता है कि आत्मा उससे ओत-प्रोत हो जाता है, तन्मय हो जाता है और इसी कारण वह परछाई की भाति आत्मा के साथ ही रहता है। क्षायिक सम्यक्त्व का रग इतना पक्का होता है कि जिस आत्मा पर चढा है, उसे कोई कितने ही कष्ट क्यो न पहुंचाये, कितनी ही कठोर से कठोर परीक्षा क्यो न ली जाय, कितने ही परीषह क्यो न आये और विजलिया ही टूट कर क्यो न गिर पडे, वह रग छूटने का नही, उतरने का नही, हल्का पडने वाला नही। ज्यो-ज्यो सोना आग मे तपाया जाता है, त्यो-त्यो वह और शुद्ध होता जाता है। उसका रग निखरता ही चला जाता है। इसी प्रकार क्षायिक सम्यक्त्व का रग एक वार चढ़ जाता है तो फिर नही उतरता।

वह क्षायिक सम्यक्त्व मनुष्य-जन्म मे ही प्राप्त होता है। मनुष्य ही उसे प्राप्त करने का अधिकारी है। ऐ मनुष्य! तेरा स्थान कितना ऊचा है! तू कितना पुण्यशाली और भाग्यशाली है! चारो गतियो मे से अगर किसी गति मे क्षायिक सम्यक्त्व का लाभ होता है तो वह मनुष्यगति मे ही हो सकता है। वह अनमोल वैभव पाना सिर्फ मनुष्य के ही भाग्य मे है। मनुष्य मे ही मोहनीय

कर्म का क्षय करने का सामर्थ्य है, अन्य किसी मे भी नहीं । हां मनुष्यभव की कमाई वह किसी भी भव मे खा सकता है। लोग कहते है—'कलकत्ते की कमाई और बीकानेर मे खाई ।' यद्यपि क्षायिक सम्यक्त्व चारो गतियो मे पाया जाता है, परन्तु उसका लाभ मनुष्यगति के सिवाय अन्यत्र नही होता । वह फर्म मनुष्य-गति ही है, जहां क्षायिक सम्यक्त्व रूपी महान् निधि का उपार्जन होता है । मानव-भव मे पाया हुआ वह अमर-फल सब जगह आत्मा के साथ रह कर उसकी रक्षा करता है और उसपर फिर मिथ्यात्व का जहर नही चढने देता । भले ही आत्मा किसी भी गति का सैरसपाटा करे, मगर निश्चित समय मे मोक्ष पहुंचा देता है । यह सम्यक्त्व मनुष्य को और उसमें भी कर्मभूमि मे उत्पन्न मनुष्य को प्राप्त होती है ।

सज्जनो ! आपका महान् सौभाग्य है कि आज आपको वह योग्यता और पात्रता प्राप्त है। आज आप उस स्टेज के स्वामी हो, उस फर्म के मालिक हो। ईमानदारी से दूकान पर बैठे और कमाई की, तो आपको उस धन की प्राप्ति हो जायेगी, जिसका नाश नही होता । किन्तु यदि सावधानी और ईमानदारी से और साथ ही अक्लमदी से दूकानदारी न की और गल्ले में से रुपये चुराते रहे या लुटेरे माल लूटते रहे तो वह पूंजी बढने के बजाय घटती जायेगी । फर्म ऊंची उठने के बदले एकदम बैठ जायेगी—खत्म हो जायेगी ।

याद रक्खो, भगवान् महावीर स्वामी इस फर्म के मालिक है । उन्होंने हमे इस फर्म पर लाभ के लिए बैठाया है। तो हमारा भी कर्त्तव्य है कि हम इस दुकान को श्रद्धापूर्वक और होशियारी के

साथ व्यापार करके ऊची उठावे । इसकी शान वढावे और दुनिया भर में इसकी ब्रांचें—शाखाए स्थापित करके संचालित करे।

मगर अफसोस के साथ कहना पडता है कि जिनको प्रामाणिकता के साथ पू जी की वृद्धि करने के लिए दूकान पर वैठाया गया था, वे कितने कपूत निकले और दूकान की शान वढाने के वदले घटा रहे है ! छोटे वेटे अयोग्यता के कारण दूकान को हानि पहुंचाये तो क्षम्य हो सकते हैं, क्योकि उन्हे दूकानदारी का ठीक तरह ज्ञान नही है, मगर हम वड़े वेटो पर तो इस दूकानदारी की विशेष जिम्मेदारी है। संसार के साधारण नियम के अनुसार घर का उत्तर-दायित्व वडे वेटे पर ही अधिक होता है ।

तो मै कह रहा था कि जिस जीव को क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त हो गया है, वह कदाचित् नरक मे चला जाये तो वह भी साथ जायेगा, देवलोक मे भी साथ जायेगा और वहा से मनुष्य जन्म दिलवा कर मोक्षधाम मे पहुचा देगा । इस प्रकार क्षायिक सम्यक्त्व एक वार उत्पन्न हो कर फिर नष्ट नही होता । कोई कितना ही रौव दिखलाये, प्रलोभन दे, चमत्कार प्रदर्शित करे अथवा कष्ट पहुचाये, मगर क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्व के महापथ से विचलित नही होता ।

सज्जनो ! आपके ही साथी, वारह व्रतधारी,दसश्रावक भगवान् महावीर के समय मे हुए है, जिनपर सम्यक्त्व का गहरा रग चढा था । उस रग को उतारने के लिए, उन्हे पथच्युत करने के लिए और उनके रग की परीक्षा करने के लिए स्वर्ग से देवता तक आये । उन्होने कठोर से कठोर परीक्षा ली, उपसर्ग की कसौटी पर कसा । परीपहो की भट्टी मे तपाया, किन्तु उनपर चढा पक्का

रंग नहीं उतरा सो नहीं ही उतरा, अन्त में उन देवताओं को हताश होकर, उन सम्यक्त्व धारको को नमस्कार करके, उनका गुणगान करके वापिस देवलोक मे जाना पड़ा ।

तो भद्र पुरुषो ! क्षायिक समकित तो आने के बाद जाती ही नहीं, किन्तु दूसरी समकित ऐसी भी होती है, जो आती है और चली भी जाती है और पुनः आ जाती है। यह सम्यक्त्व भी अच्छा ही है। उत्पन्न होने और चली जाने पर भी अन्त में वह जीव को ठीक ठिकाने पहुचा देती है। बच्चा पट्टी पर अक्षर लिखता है और फिर मिटा देता है। यो करते-करते वह अक्षर लेखन में निष्णात हो जाता है ।

शास्त्रकार बतलाते है कि आगे सम्यक्त्व उन्ही को प्राप्त होता है, जिन्होने हरचन्द उसकी रक्षा की है। इसके विपरीत जिन्होने सम्यक्त्व का निरादर किया है, अपमान किया है अथवा सम्यग्दृष्टि की निन्दा की है, उन्हे यहां भी सम्यक्त्व की प्राप्ति न हुई तो आगे के लिए कैसे आशा की जा सकती है ? जिस वस्तु का निरादर किया जाता है, वह वस्तु उसे छोड देती है। अतएव जो वस्तु आत्मा के लिए मगलकारी है, उसका रक्षण करना चाहिए ।

आगे सम्यक्त्व की प्राप्ति उन्ही को होगी, जो यहा सम्यक्त्व के रग में रगे है, जिनकी ऐसी धारणा निश्चित हो गई है कि भगवान् सर्वज्ञ द्वारा निर्दिष्ट मार्ग ही सच्चा अर्थ है, परमार्थ है और जितनी भी बालचेष्टाए है, अज्ञानियो की कल्पनाएं है, सब अनर्थ है, मिथ्यास्वरूप है। इस प्रकार की शुद्ध धारणा जिनकी हड्डी-हड्डी और मीजी-मीजी मे समा गई है, वही सम्यक्त्व के अधिकारी होते है ।

अगर आप लड्डू-पेडे मुह मे ही घुमाते रहो तो इससे मुह को थोडा सा स्वाद तो अवश्य आ जायेगा, परन्तु भूख नही मिट सकती। इसी प्रकार जिनके सम्यक्त्व की घोषणा और सम्यग्दृष्टि होने का दावा जिह्वा तक ही सीमित है, जिनकी अन्तरात्मा सम्यक्त्व से ओतप्रोत नही हुई है, उनका कल्याण नही हो सकता। "हम ऐसे है, वैसे है और देव, गुरु, धर्म के भक्त है" ऐसा दावा-मात्र करने से कोई काम नही चलता। सभी सती-जती होने का दावा करते है, परन्तु परीक्षा के समय वहुतो की पोल खुल जाती है। यो तो ८० साल की वृद्धा कह सकती है कि मै पतिव्रता सती हू और ६० वर्ष का वुड्ढा अपने आपको जती होने का दावा कर सकता है, मगर देखना यह है कि उन्होने अपने यौवन-काल मे क्या किया है? जव इन्द्रियो मे सामर्थ्य था, उस समय उन्होने यदि इन्द्रियो का दमन किया है तो वे नि सन्देह वहादुर है, प्रशसनीय है और सती-जती पद के अधिकारी है, अन्यथा उनके दावे मे कोई सचाई नही कही जा सकती।

यहा यह भी नही भूल जाना चाहिए कि केवल वाह्य-क्रियाओ से अर्थात् प्रकट मे भोगो से दूर रहने मात्र से कोई सती-जती का गस्त पद नही पा लेता। इस पद को प्राप्त करने के लिए तो भोग की वासना को दूर करना पडता है।

सज्जनो! लड्डू मुह मे दवा रखने से जीभ को मिठास मालूम होगा, परन्तु उससे शरीर-वल की वृद्धि नही होगी। इसी प्रकार जो अपने आपको समकितधारी कहते है और कहते है कि हम रिजर्व फड है, जो सबसे आगे वैठने वाले और 'खमा घणी अन्नदाताने' बोलने वाले है, वे मिथ्यात्व का सेवन करने मे भी,

यदि सबसे आगे आते है, तो उनमें सम्यक्त्व की सम्भावना कैसे की जा सकती है ? इस प्रकार की दुरंगी चाल चलनेवाले न इधर के रहते है और न उधर के रहते है !

सम्यग्दृष्टि की दृष्टि और सृष्टि कुछ निराली ही होती है। वह दुनिया ही दूसरी है। उसमे प्रत्येक का प्रवेश नही हो सकता। उसमे तो वही कदम बढा सकता है, जिसने अपने आप पर नियत्रण प्राप्त किया है और पूरी तरह पात्रता प्राप्त कर ली है।

पैसे खर्च करके और टिकट खरीद कर कोई भी सर्कस या सिनेमा देखने जा सकता है। वहा की नई तारीफ, नया तरीका, नया शो और नया फैशन वगैरह देखने के लिए टिकट लेना होता है। वहां टिकट-घर पर कितनी भीड़ होती है ! कई बार उस ओर से गुजरने का काम पडा तो देखा कि टिकट पाने के लिए लडके और जवान टूट पड़ते हैं। कई बार छोटे बच्चो को तो चोट तक लग जाती है। टिकट खरीदने के पश्चात् सिनेमा-हाऊस मे प्रवेश करके कुर्सी पर बैठ जाते हो तो चित्त भी उसी ओर, मन भी उसी ओर और अध्यवसाय भी ऊसी ओर आकृष्ट हो जाते है। सब ओर से इन्द्रियो को समेट कर, एकत्र करके देखने में ही केन्द्रित कर लेते हो।

अरे दुनिया के लोगो ! नाशमान और नकली पिक्चर—फिलम को देखने के लिए कितने उत्कंठित होते हो ! लालायित रहते हो ! इन्द्रियो को और मन को किस प्रकार एकाग्र बना लेते हो ! और उसे देखने के लिए टिकट भी लेना पडता है और कभी-कभी तो ब्लैक से भी टिकट खरीदना पड़ता है और बिना टिकट जाओ तो धक्के मिलते हैं।

याद रखिये, सम्यक्त्व के सुन्दर ससार मे भी टिकट के विना प्रवेश नही हो सकता और वहा प्रविष्ट हुए विना आत्मा का अद्भुत नजारा और अलौकिक दृश्य नही देखा जा सकता। वहां का अनुपम आनन्द नही उठाया जा सकता। उस अनूठे आनन्द का अनुभव वही कर सकते है जिन्होने अपनी आत्मा को वहाँ प्रवेश पाने योग्य वना लिया है। आज आप मुफ्त मे सिनेमा देखना चाहते है, पर यह वात वनने वाली नही है। उसके लिए तो पात्रता प्राप्त करनी चाहिए।

तो मै कह रहा था कि सम्यग्दृष्टि की दृष्टि और सृष्टि ही निराली होती है। उसका जीवन निखरा हुआ होता है। उसके अन्तर मे राग-द्वेष के जहर की तीव्रता नही रह जाती। वह वहिरात्मा नही रहता, अन्तरात्मा बन जाता है और अन्तरात्मा वन जाने के कारण वह जात-पांत के भेद-भाव से ऊपर उठ जाता है। उसके हृदय की वीणा से एक ही मधुर झकार निकलती है कि—

सव्व भूयप्प भूअस्स, सम्म भूयाइ पासओ।

अर्थात्—लोक मे जितनी भी आत्माए है, सव मेरी ही आत्मा के सदृश है। जो वे है, वही मै हू।

सज्जनो! जव तक व्यक्ति के हृदय मे यह भावना नही आयेगी, तव तक उसका कल्याण नही होगा। जब तक यह सूत्र आपके जीवन मे नही उतरेगा और यह सूत्र आपका जीवन-सूत्र नही वनेगा, तव तक सम्यक्त्व टिकने वाला नही है। सम्यक्त्व के पचाने की योग्यता चाहिए। वह यो ही टिकने वाली वस्तु नही है।

मनुष्य मे जव यह भावना आजाती है कि ससार की सभी आत्माएं मेरी ही आत्मा के समान है, उनमे और मुझ मे कोई

मूलभूत अन्तर नही है, जैसी असख्यात प्रदेश वाली और चैतन्य स्वभाव वाली मेरी आत्मा हे, वैसी ही दूसरो की भी है, जैसे मुझ में ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग है—उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा मे है और इस सूत्र ने सबको एक ही माला मे पिरो दिया है, तब सम्यक्त्व का आविर्भाव होते विलम्ब नही लगता। आप सब भाई इस पचायती नोहरे मे एक ही उद्देश्य और लक्ष्य को लेकर आते है। व्याख्यान को श्रवण करना ही सबका ध्येय होता है। इस प्रकार आप सबका केन्द्रीभूत स्थान एक है। किन्तु जब यहा से जायेगे तो दो रास्ते हो जाते है और कुछ और आगे जाने पर अनेक रास्ते हो जाते है। तो जैसे यह श्रवण स्थान एक ही है; यहां से रवाना होने पर दो और फिर अनेक है, इसी प्रकार जीव सामान्य लक्षण से एक है। जीव का सामान्य लक्षण चेतना है। इस लक्षण के आधार पर विचार करे तो मुक्त और संसारी, एकेन्द्रिय से लगा कर पंचेन्द्रिय तक के देव, नारक, मनुष्य, तिर्यञ्च सभी एक ही कोटि मे है—एक ही प्लेटफार्म पर अवस्थित है। इसके बाद जब जीव के विशेष लक्षणो पर ध्यान दिया जाता है तो दो भेद हो जाते है—ज्ञानोपयोगी और दर्शनोपयोगी अथवा मुक्त और संसारी। कोई भी जीव ऐसा नही जो इन दोनो से बाहर हो। समस्त जीवो का इन दो भेदो में समावेश हो जाता है और इससे आगे बढ़े तो रास्ते अनेक हो जाते है। यहां तक कि जब आत्मा की गहराई मे उतरते है तो प्रतीत होता है कि आत्मा के असख्य और अनन्त रूप है।

आत्मा में एक प्रदेश भी है और दो प्रदेश भी है, परन्तु एक या दो प्रदेश आत्मा का पूर्ण रूप नही है। आत्मा का पूर्ण रूप तो असंख्य प्रदेशात्मकता ही है। मगर आत्मा को यह स्वरूप

प्रदान करने वाला आखिर एक प्रदेश ही है। एक पैसा भी रुपये का स्वरूप ही है, क्योंकि एक-एक पैसा मिल कर ही रुपये का रूप धारण करता है। ६४ पैसो के मिलने पर ही रुपये का पूर्ण रूप तैयार होता है। एक पैसे से माल मिलेगा तो ६४ पैसो से भी मिलेगा।

अभिप्राय यह है कि यद्यपि एक पैसा रुपया नही कहलाता, किन्तु पैसो के समुदाय से ही रुपया बनता है, इसी प्रकार आत्मा एक प्रदेशी या दो प्रदेशी नही है और असख्यात प्रदेशी ही पूर्ण आत्मा कहलाता है, किन्तु भूल नही जाना चाहिए कि एक-एक प्रदेश का भी मूल्य है।

हे रुपया! तू गरूर मत कर कि मै रुपया हूँ, मै पूरा हूँ और यह एक पैसा है—अधूरा है! तेरी पूर्णता, तेरा रुपयापन किस पर अवलम्बित है? पैसो के समूह ने ही तुझे रुपये का रूप प्रदान किया है। ऐ ऊचे सिंहासन पर बैठने वाले! तू अपने को रुपया मानता है, अकडता है कि मैं नेता हू, प्रमुख हू, लीडर हू; और दूसरो को हिकारत की निगाह से देखता है, तुच्छ और नगण्य समझता है और सोचता है—अजी, यह पैसे है, मेरी तुलना मे क्या है, मेरा क्या बिगाड लेगे? इनकी हस्ती ही क्या है? मूल्य ही क्या है! किन्तु अभिमानी रुपया! याद रखना, तेरा कही पता नही चलेगा। एक-एक पैसा तुझसे अलग होता जायेगा तो ६४वे दिन तेरा सम्पूर्ण अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा।

ओ ऊचा देखने वाले! मान-बडाई पाने वाले! रुपयापन का घमड करने वाले! इन पैसो को मत ठुकरा। जिस दिन ये आँखे फेर लेगे, तेरा कही अस्तित्व ही नही रह जायेगा।

अरे अल्हडपन से लहराने वाले सागर ! ओ असीम जल-राशि के स्वामी ! तेरा अस्तित्व नदी-नालो से ही है। बूंद-बूंद करके ही समुद्र बना है। नदी-नालों के अभाव में ससार मे कही तेरा अस्तित्व नही टिक सकता।

बुद्धिमानों को इतना ही इशारा काफी है।

भद्र पुरुषो ! मै कहने जा रहा था कि इस आत्मा का अस्तित्व भी असख्यात प्रदेशो पर कायम है। कदाचित् एक-एक प्रदेश आत्मा से पृथक् होने लगे तो आत्मा का कही अस्तित्व ही न रह जाये ! मगर प्रकृति ने, नेचर ने यह सब कुछ अपने ही हाथ मे रक्खा है। इसलिए ऐसा कभी होने वाला नही है। अगर ऐसा करने का अधिकार तुम्हारे हाथ में दे दिया जाता तो तुम आत्मा के भी टुकडे-टुकड़े कर डालते और ऐसा करते देर न करते !

जिसे आत्मा के दर्शन करने है, आत्मा का करिश्मा देखना है और यह जानना है कि आत्मा मे क्या गुंजन हो रहा है—अनहद शब्दो की कैसी झंकार झकृत हो रही है, उसे टिकट खरीदना होगा। टिकट खरीदे बिना कोई भी वह अपूर्व आनन्द लूटने नही जा सकता। उसे आध्यात्मिक दृश्यो की फिल्म के नजारे देखने को नहीं मिल सकते। केवल टिकट वाले—समकितधारी ही उस अलौकिक दृश्य को देख सकते है। जिनकी दृष्टि मलीन है, जो मिथ्या-दृष्टि है, वे उस सिनेमा-गृह मे प्रवेश पाने के अधिकारी नही है, क्योकि उनके पास प्रवेशपत्र नही है।

सज्जनो ! यह सुनहरी जीवन बार-बार मिलने वाला नही है। अतएव इन्द्रियो को और मन को काबू मे करो। जब आप सासारिक, नश्वर और यहा तक कि विकारवर्धक खेल-तमाशा

देखते हो, तब आपका मन, आपकी इन्द्रिया और आपका हृदय, सब एकाग्र हो जाता है। चारो ओर से सिमट कर सब शक्तिया एक ही तरफ आकृष्ट हो जाती है और यह खयाल रहता है कि पैसे खर्चे है तो पूरा लाभ उठा ले। ऐसी स्थिति मे ही आप उस खेल का ठीक तरह आनन्द लूट सकते है। उस समय मन दूकान की ओर चला जाये और देन-लेन की चिन्ता में डूब जाये तो खेल का पूरा आनन्द नही उठाया जा सकता। तो मन को केन्द्रित एवं एकाग्र किये विना आनन्द की अनुभूति सभव नही है।

तो आत्मा की फिल्म का जो नजारा है, उसका पूरा आनन्द लेने के लिए भी वडे-वडे साधनो की आवश्यकता है। पर तुम्हारा मन इधर-उधर चक्कर काट रहा है और वह चक्कर न काटे तो क्या करे ? तुम अपने स्वरूप को भूल गये हो। जो अपने आपमे आनन्दित रहता है, वही दूसरे पदार्थो मे भी आनन्द ले सकता है और जो स्वय ही व्याधिग्रस्त है, मानसिक पीड़ा से पोड़ित है, उसे ससार को सुन्दर से सुन्दर वस्तु भी नही सुहाती, बल्कि सभी वस्तुए वुरी लगती हैं। उसके लिए सव वाह्य दृश्य दु.ख रूप प्रतीत होते है। यह एक व्यावहारिक सत्य है कि पास मे कुछ होता है तो उधार भी मिल जाता है और जिसके पास मे कुछ नही, उसे उधार भी नही मिलता।

अगर तुम्हारे पास सम्यग्दर्शन रूप गुण है तो तुम्हे वाहर से भी गुण मिल सकते है। सम्यक्त्व गुण नही है तो वाहर से भी तुम कुछ नही पा सकते।

कोई कहता है—हमको तो कोई जानता भी नही है, कोई सत्कार ही नही करता। पर भलेमानुस ! तुम अपने आपको

जानो तो दूसरे भी तुमको जाने। तुम अपनी आत्मा का आदर नही करते तो दूसरे तुम्हारा आदर क्यो करेंगे ?

आप सोचते होगे—महाराज यह क्या कह रहे है ? ऐसा कौन होगा जो अपने आपको न पहचानता हो और आप ही अपना अपमान करता हो ? इसका सीधा और संक्षिप्त उत्तर यही है कि जो मोह-निद्रा मे सोया हुआ है, जिसने मोह-मदिरा का पान कर रक्खा है, जिसे अपना भान नही है कि मै कौन हूं, और वह जो निन्द्य कृत्य कर रहा है, अपना अपमान कर रहा है, अपनी आत्मा का तिरस्कार कर रहा है। मोह-मदिरा के चंगुल में फसे हुए विरले ही जागते है और अपने स्वरूप को पहचानते है। कहा भी है —

रंग लागत लागत लागत है,
भ्रम भागत भागत भागत है।
यह अनादि काल का सोता—
जीवड़ा जागत जागत जागत है।

जो एक बोतल शराब पी लेता है, उसके नशे का भी कुछ ठिकाना नही रहता। ऐसी स्थिति मे घडे के घडे शराब पी लेने वाले का तो कहना ही क्या है ?

तो जो स्वयं अपना अपमान कर रहा है, वह अगर दूसरो से सम्मान पाने की आशा करता है तो किस प्रकार सफल हो सकता है ? किसी की निन्दा करना और किसी को नीचा दिखलाने की भावना रखना, यह सब अपना ही अपमान करना है। जो भी दुष्कृत्य है, पापकर्म है, उसे करके कोई भी अपना सम्मान नही बढा सकता। अच्छे काम करने वाले ही अपनी शान बढा सकते है। बुरे काम करने वाले सदा अपना अपमान ही करायेगे।

अरे मूर्ख ! तेरी गिनती करने कौन आयेगा ? तू तो अपनी हस्ती को, शक्ति को और अपनी इकाई को स्वय ही विस्तृत किये बैठा है ! ऐसी स्थिति मे दूसरो से कोई आशा करना व्यर्थ है।

एक भिखारी जूठन के टुकडे गलियो मे माग-माग कर अपना पेट पाल रहा था। 'बाबूजी, भूखा हू, दया करो, रूखा-सूखा टुकडा दो' कह कर जीवन के दिन गुजार रहा था। भाग्यवशात् वह किसी नगर का राजा बन गया, क्योकि उस नगर का राजा मर गया। उस भिखारी का भाग्य चमका और वह राजसिंहासन पर आसीन कर दिया गया। उसके मस्तक पर मणिमडित मुकुट रक्खा गया, चवर और छत्र झूलने लगे। राज्याधिकारी और प्रजाजन उसकी जयजयकार करने लगे।

सज्जनो ! वह भिखारी से राजा बन गया। सिंहासन पर बैठ गया। बनाने वालो ने उसे राजा बना दिया। मगर इतना सब होने पर भी क्या हो गया ! उसकी भिखारीपन की मनोवृत्ति तो नही बदली। अरे, राजसिंहासन पर बैठने के बाद भी तू अपने आपको भिखारी ही समझ रहा है ? भिखारी तो तू तब था, अब तो राजा बन गया है। अतएव तुझे दृढतापूर्वक घोषणा करनी चाहिए कि मै अब राजा हू। किन्तु वह अभागा है जिसके दिल से अब भी भिखारीपन की भावना नही गई। उसके दिल में अब तक भी वही वासना बनी हुई है कि मै गली-गली मे ठोकरे खानेवाला और दूसरो से तिरस्कृत होने वाला भिखारी हू। उसने सिंहासन पर आसीन होकर भी अपने भिखारीपन की भावना नही त्यागी। जब उसका प्रधानमन्त्री शान-शौकत के साथ उसकी सेवा मे आता है तो वह मन ही मन भयभीत होता है और सोचता है कि यह कही मेरा अपमान तो

नही करेगा ! अरे मूर्ख ! वह तेरा अपमान कैसे कर सकता है ? उसकी ताकत ही क्या है कि तेरी आज्ञा का उल्लघन कर दे ! मगर तेरे भीतर शक्ति और साहस का सचार उसी समय होगा, जब तू अपने भूतकाल की स्थिति को भूल जायेगा और यह भूल जायेगा कि तू भिखारी था और अपने वर्तमान पद के गौरव को समझ कर गर्जना और गौरव के साथ बोलेगा। मगर तू तो अभी तक अपने आपको भिखारी ही मान रहा है। तुझसे यह काम कैसे होगा ?

हा, तो वजीर आकर अपने आसन पर बैठ जाता है और राजा साहब के आदेश की प्रतीक्षा करता है, मगर वह अपनी ओर से पूछता कुछ नही है। राजा कभी कुछ पूछता है तो मत्री अपनी गभीर और गौरवपूर्ण वाणी से उसका उत्तर दे देता है। भिखमगा राजा एकदम सहम जाता है और दब कर बैठ जाता है। उसे राजशाही बोली ही नही आती। उसके जीवन मे उदात्त राजसी विचार ही पैदा नही हुए। अतएव मंत्री उस राजा की बोलती बंद कर देता है ! वह कम्बख्त अपने को राजा समझे तो वजीर को दबा सकता है, मगर वह तो भिखारी ही अपने आपको मान रहा है।

उसके बाद सेनापति आता है। उसका लम्बा-चौडा वक्षस्थल है, ऊचा-पूरा डीलडौल है। प्रभावशाली चेहरा है और चमकते हुए नेत्र हैं। वह भी आकर अपने आसन पर बैठ जाता है। भिखारी राजा उसे देखकर सकपका जाता है। सोचता है—यह कही मुझे मार न डाले ! किन्तु अरे मूर्खाधिराज ! वह तो तेरा नौकर है। तेरी आज्ञा के अनुसार नाच सकता है। वह तेरी उगली

के इशारे पर चलने वाला है। मगर भिखारीपन के विचार वाले व्यक्ति मे राजा के विचार नही आ सकते।

फिर सेठ-साहूकार आते है। किन्तु भिखारी के चेहरे पर शाही रौनक न देखकर वे भी मनचाही बाते करते है। आपस मे कहते है—कल भिखारी था और आज राजा बन गया है! क्या कहना है!

इस प्रकार उस भिखारी राजा का कोई सम्मान नही करता। उसे राजा बनाने वाले भी उसका अपमान करते है। मगर राजा होकर भी ह सब के किये अपमान को सहन कर रहा है। मै पूछना चाहता हू सज्जनो! इस परिस्थिति मे क्या रत्नों से जड़ा मुकुट और सोने का सिंहासन भी उसे आनन्द प्रदान कर सकता है? नही, उसकी आत्मा कदापि आनन्द का अनुभव नही कर सकती।

जीवन का मूल्य कीमती रत्नो से, सिंहासन से और राजमुकुट से नही आका जा सकता। हीरो और जवाहरातो से भरे खजानो से भी जीवन का मूल्य नही कूता जा सकता। जीवन की कीमत इन सब से भी ऊची—बहुत ऊची है। जीवन की आन और शान चमकीले भौतिक पदार्थो से भी बहुत ज्यादा है। आत्मा को अनन्त-अनन्त बार रत्नो से परिपूर्ण खजाने मिल गये, सोने के सिंहासन भी मिल गये, किन्तु आत्मभाव नही मिला। इसी कारण आत्मा राजा बन कर भी भिखारी ही बना रहा। इसी से वजीर उसे ठुकराता है, सेनापति अपनी धाक जमाता है और दूसरे लोग भी मनचाहे शब्द कह कर उसका अपमान करते है।

अगर भिखारी मे राजा जैसे लक्षण आ जाते, राजा की आन-शान को और जवाबदारी को वह समझ लेता तो किसकी मजाल

थी कि उसका अपमान कर सके और उसकी ओर उपेक्षा की निगाह से देख सके ? वह सेनापति और सचिव पर अपनी धाक जमाता और कठोर अनुशासनात्मक शब्दो मे कह देता—चले जाओ यहा से ! मुझे तुम्हारे जैसे नमकहराम अधिकारियो की आवश्यकता नही है। इस समय मैं यहां का शहनशाह हू, शासन का अधीश्वर हू और शाही ताज पहन कर शाही सिंहासन पर आसीन हूं। मैं भिखारी नही, बादशाह हू।

मगर उसने अपने आपको पहचाना नहीं। इसी कारण वह सिंहासन पर बैठ कर भी अपमानित हो रहा है। उसे अपनी पूर्वावस्था पर विचार केन्द्रित नही करने चाहिए थे। भले वही पहले भिखारी था, उसके पास फूटी कौडी भी नही थी, कपडा और रोटी से भी मोहताज था, मगर उसकी वह अवस्था गुजर गई है। उस गुजरी दशा को देखने और सोचने से क्या लाभ है ? 'यदतीतमतीतमेव तत्' अर्थात् जो गया सो गया। अब तो वह बादशाह है और शान तथा आन वाला है। उसे राजकीय ससार में ही विचरण करना चाहिए। अरे, वह राजा ही क्या जिसके आदेश की मंत्री और सेनापति अवहेलना करने की हिम्मत कर सकें ? अतएव तुम गये-गुजरे जमाने को मत देखो, वर्तमान को देखो।

भगवान् महावीर पहले क्या थे ? वह आप और हमारी तरह चौरासी लाख जीव-योनियो में भटकने वाली आत्मा थे। किन्तु जो पहले थे, उससे हमें प्रयोजन नही है। हमें आज की स्थिति पर विचार करना है। वे आज अजर, अमर, अविनाशी परमात्मा है। पहले की स्थिति से क्या होना जाना है। अनन्त अतीत काल में कौन किन-किन परिस्थितियो में से पार हुआ है, कौन जानता

है ? गये-गुजरे को रोने से लाभ भी क्या है ? हमे वर्तमान पर दृष्टि रखनी चाहिए।

कहने का आशय यह है कि भिखारी को सिंहासन पर बैठ जाने पर आनन्द नही आया। उसको अपने वर्तमान पर विश्वास नही था और भूत 'भूत' की तरह ही उसकी आंखो के आगे नाच रहा था।

हे मनुष्य ! तू मनुष्य का जन्म लेकर जीव-जगत् का वादशाह वन गया है। चौरासी लाख जीवयोनियो मे मनुष्य का दर्जा सव से ऊचा है। पर तू भूतकाल मे एकेन्द्रिय आदि के रूप मे भिखारी था। किन्तु इससे क्या हो गया ? जव था तव था। अव तो तू सम्राट् के सिंहासन पर आसीन है। अतएव अपने आत्मभाव को समझ और अपने जीवन को उच्चतर स्तर पर पहुचा कर अपना कल्याण कर। इस तथ्य को तू भली-भाति समझ लेगा, तभी तेरा काम वनेगा। मगर तुझे तो रह-रह कर भिखारीपन की ही याद आ रही है और उसमे तू आनन्द मानना चाहता है।

सज्जनो ! मै आपसे पूछना चाहता हू कि जिस वादशाह की की यह दशा हो कि वजीर और सेनापति तथा दूसरे नागरिक भी अपमान करने मे न हिचके, कोई मनस्वी एव तेजस्वी उस स्थिति को पसद करेगा ? ऐसे सिंहासन पर बैठ कर कौन सन्तुष्टि का अनुभव कर सकेगा ? मै समझता हूं, कोई भी उस सिंहासन पर वैठना न चाहेगा।

दुनिया के लोगो ! तुम शुभ कर्म के उदय से मनुष्य ही नही, श्रावक वन गये हो। क्या कम गर्व की वात है ? इतने पर भी तुम्हे अपनी आत्मा पर विश्वास नही है कि—'मै' आज चौरासी लाख जीवयोनियो मे बादशाह स्वरूप हू, जगत् में मेरा सर्वोपरि

आसन है। जब तक आत्मा में यह उच्च भावना नही आ जाती, उन्नति भी नही हो सकती।

वह श्रावक ही कैसा जो कहता है—हम सामायिक-प्रतिक्रमण कैसे करें, तपस्या कैसे करें, मन तो वश मे रहता ही नही है! वह हमारा कहना ही नही मानता! और यह इन्द्रिया भी मेरी अधीनता स्वीकार नही करती! शरीर मेरे आदेश की परवाह ही नही करता है!

मैं आपसे पूछता हू—जब मन तुम्हारा मत्री है, शरीर आज्ञाकारी सेनापति है और इन्द्रिया दासियां है, तो तुम राजा के रूप मे इन्हे आज्ञा क्यों नही देते? अगर मन तुम्हारा मत्री नही किन्तु तुम मन के मंत्री हो, शरीर तुम्हारी आज्ञा मे नही, वरन् तुम शरीर की आज्ञा मे हो, इन्द्रिया तुम्हारे अधीन नही और तुम इन्द्रियों के अधीन हो, तो तुम्हें वास्तविक राजा किस प्रकार कहा जा सकता है? तुम वास्तव मे राजा नही, भिखारी हो। राजा बनने के पश्चात् तुम्हारे लिए यही शोभा की बात है कि तुम मन-मत्री, शरीर-सेनापति, इन्द्रिय-दासियो को आज्ञा देकर सेवा कराओ! मगर तुम राजा होकर भी आज इनके दास बन रहे हो! इनकी आज्ञा का पालन कर रहे हो और इनके इशारो पर नाच रहे हो!

जब राजा की यह दशा हो तो प्रजा का क्या पूछना है? आज तुमने राजा होकर भी गुलामी स्वीकार कर ली है। कोई कहता है—भाई, भजन करने चलो! तो तुम उसे उत्तर देते हो,—मैं भजन तो करना चाहता हू किन्तु मेरा मन काबू मे नही रहता। ऐसा कहने वाला राजा नही, गुलाम है। कहते हो—मेरा शरीर काम नही देता, किन्तु तुम स्वय हरामखोर हो! जब तुम्हारी आत्मा ही आरामतलब हो रही है तो शरीर बेचारा क्या

करे ? आज आत्मा सीधी सजी-सजाई कुर्सी पर बैठना चाहती है और जूतो मे खडा रहने मे अपना अपमान समझती है, किन्तु याद रखना, जो जूतो म रहने मे अपना स्वाभिमान समझता है, उसको भी एक दिन उच्च आसन मिल सकता है।

यह बात पजाब मे सिक्खो के गुरुद्वारे मे पाई जाती है। लोग गुरु ग्रंथ साहब के दर्शन करने जाते है। वहा कई सिख खडे रहते है जो दर्शनार्थ आये लोगो के जूते ही साफ करते रहते है। मानचन्द्रजी को झुकाने का यह भी एक तरीका है। सिक्खो मे मजबूत सगठन है। आज तो नाइयो की जाति भी आपसे अधिक सगठित है। उनकी सभा होती है और उसमे जो भी नियम बनाये जाते है, सबको उनका पालन करना आवश्यक हो जाता है। आप हरिजनो को अछूत समझते है, किन्तु उनकी जाति के कई नियम भी अच्छे है। कोई किसी की बहू-बेटी को छेड़ देता है तो सब इकट्ठे हो जाते है और उसके यहा झाडना छोड देते है ताकि सेठ को पता चल जाये कि उसके कुकर्म का क्या नतीजा होता है ? आज जिन्हे तुम हल्की जाति कहते हो, उनके सगठन के उदाहरणो को देखकर और सुनकर भी तुम अपनी जाति का सुधार नही करते और कानो मे उगली दबाये बैठे हो ! तुम ऊची आन और शान वाले हो, फिर भी तितर-बितर हो रहे हो ! जैसे एक श्वान दूसरे श्वान को देख कर घूरता है, उसी प्रकार इन्सान इन्सान को देख कर घूरता है। इस प्रकार आज इन्सान हैवान बनता जा रहा है।

भद्र पुरुषो ! सब को सम्मान की आवश्यकता है। कोई भी अपमान नही चाहता। किन्तु जब तुम मन, शरीर और इन्द्रियो के वास्तविक स्वामी बन जाओगे, तभी वे आज्ञा मानेगे। अगर उसी भिखारी अवस्था को याद किया करोगे, अन्त करण से दैन्य भाव

नही दूर कर सकोगे तो उनके ऊपर शासन नही कर सकोगे। अतएव आराम से सोने का यह समय नही है। अपने आत्म-राजा को जगाओ। कहा भी है—

भाइयो ! बेखबर हो के सोना नहीं,
जन्म इंसान का मुफ्त खोना नहीं ॥
जो रहा वक्त उसमें भलाई करो,
वक्त गुजरे को कर याद रोना नहीं ॥
पैदा होता है दुनिया में मरता वही,
मौत से बच के छुपने को कोना नहीं ॥
प्रेम और सत्य के तुम पुजारी बनो,
फूट की बेल के बीज बोने नही ॥
वंशी महावीर का सच्चा फरमान है,
पाने मक्खन हो पानी बिलोना नहीं ॥

सज्जनो ! गुरु महाराज कहते है—बेखबर होकर मत सोओ बादशाह साहब ! इस जीवन मे जो कुछ करना है, झटपट कर लो।

मै नौजवानो को भी आह्वान करूंगा और कहूगा कि आज आपको ठीक दिशा में चलने की आवश्यकता है। जो वृद्ध है वे अपना काम कर रहे है, किन्तु आप अपने कर्त्तव्य को संभालें। अगर आपके रक्त में उष्णता है, हृदय मे जोश है और सघभक्ति तथा गुरुभक्ति की भावना हिलोरें मार रही है तो इस जवानी से काम लेना चाहिए। बुढापे में तो कुछ भी बनने वाला नही है। अतएव सेवा की ड्यूटी नौजवानो को ही संभालनी चाहिए। वृद्ध और विचारशील अनुभवी अपने अनुभव से नौजवानो की सहायता

करे, पथप्रदर्शन करे और ठीक-ठीक लाभदायक विचार देते रहे । वृद्ध नेत्रों का काम करे और युवक पैरो का काम करे तो यात्रा होगी, प्रगति होगी और निर्विघ्न होगी । लक्ष्य निकट से निकटतर होता जायेगा । दोनो में प्रेम और भक्ति की भावना चाहिये । जैसे हाथ, पैर, दिल, दिमाग, नेत्र, आदि अवयव अपने-अपने स्थान पर रह कर काम करते है, सव एक-दूसरे के सहायक बनते है और सव मे प्रेमभाव है, उसी प्रकार समाज के सभी अग जव सुसंगठित होगे और सव नियमित रूप से अपना-अपना कार्य करेगे, तभी प्रगतियात्रा सफल हो सकेगी । वही समाज बढता, उठता, फलता और फूलता है जिसमे एकता है, सगठन है, सगठन के फलस्वरूप जिसमे शक्ति है और पारस्परिक सौहार्दभाव विद्यमान है ।

सज्जनो ! अगर आप अपने वैयक्तिक और सामाजिक जीवन को उन्नत देखना चाहते है तो मेरी वातो पर ध्यान दीजिये और अमल कीजिये । ऐसा करने से आपका कल्याण होगा ।

ब्यावर
३०-८-५६

: ३ :

शुक्ललेश्या का महत्त्व

वीरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो वीरं वुधाः संश्रिता.,
वीरेणाभिहत. स्वकर्मनिचयो, वीराण नित्यं नम ।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं वीरस्य घोरं तपो,
वीरे श्रीधृतिकीर्तिकान्तिनिचय. हे वीर ! भद्रं दिश ॥

× × ×

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिता सिद्धाश्च सिद्धिस्थिता',
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराः पूज्या अपाध्यायकाः ।
श्रीसिद्धान्तसुपाठका मुनिवरा रत्नत्रयाराधकाः,
पञ्चैते परमेष्ठिन प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

उपस्थित सज्जनो !

कल मैंने वताया था कि समकित की प्राप्ति किस-किस जीव को सकती है, और उसके लिए हृदय की कितनी शुद्धि आवश्यक है । इस विषय मे मैंने कहा था कि मनुष्य के जीवन मे तीन महान् दोष होते हैं—मिथ्यात्व, नियाण। और हिंसा । ये तीनो ही महान् दुर्गुण है । जिस जीव के जीवन मे उनका साम्राज्य होता है, उस जीव को जन्मान्तर मे भी समकित की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है । इसके विपरीत जिस जीव को जन्मान्तर मे समकित की प्राप्ति हो सकती है, उसके लिए हृदय की कितनी शुद्धि आवश्यक है, यह वताते हुए शास्त्रकार कहते है कि जो जीव समकित-दर्शन मे दृढ है, जिसकी श्रद्धा पक्की है, जो

नियाणा नही करता और जो शुक्ललेशी हो, उसे समकित की प्राप्ति हो जाती है। जिसकी समस्त धार्मिक क्रियाए पौद्गलिक आशा को लेकर नही, बल्कि केवल कर्म-निर्जरा को लेकर की जाती हों, आत्मशुद्धि के लिए की जाती हो तो उसे समकित की प्राप्ति हो जाती है।

सज्जनो ! आत्मशुद्धि के लिए जो क्रियाए की जाती है, उनमे नियाणा नही होता । अत दूसरे नबर पर आवश्यक है कि जीव शुक्ललेश्या मे हो। जिस जीव की आत्मा ने समकितपूर्वक शुक्ल-लेश्या में प्रवेश कर लिया है, उस समकिती की जप-तपादि जितनी भी क्रियाए है, उनमे नियाणा नही होता, वे शुक्ललेश्या सहित होती है। ऐसा जीव जब काल करता है, तब वह ऐसे स्थान पर जन्म लेता है जहाँ उसे शुक्ललेश्या समकित-धर्म मिलना सुलभ होता है, क्योकि उसकी जमीन स्वच्छ थी। जिनकी लेश्या मलीन होती है, जो मिथ्यात्व मे रत होते है, उन्हे समकित की प्राप्ति नही हो सकती।

अब विचार करना चाहिए कि शुक्ललेश्या का क्या लक्षण है ? शुक्ल अर्थात् सफेद, स्वच्छ, पवित्र। तो यह कैसे मालूम किया जाये कि इस जीव की लेश्या मलीन है कि स्वच्छ, क्योकि लेश्या तो नजर आती नही है। हा, वैसे तो ये पुद्गल है और इनमे वर्ण-गध-रस और स्पर्श है, किन्तु ये इतने सूक्ष्म है कि आंखो से दिखाई नही देते। किन्तु दिखाई न पडने पर भी इनका असर बाहर आ जाता है और उसी आधार पर समझा जा सकता है कि इनमे शुक्ल-लेश्या है। फिर भी ज्ञानी पुरुषो ने इसकी पहिचान इस प्रकार बताई है —

अट्ट रुद्दाणि वज्जित्ता, धम्म सुक्काणि झायए ।
पसन्तचित्ते दन्तप्पा, समिए गुत्तेय गुत्तिसु ॥
सरागे वीयरागे वा, उवसन्ते जिइन्दिए ।
एय जोग समाउत्तो, सुक्क लेसन्तु परिणमे ॥

जिसने आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान को छोड दिया है, जो खोटी गति मे ले जाने वाले है, ये दोनो ही ध्यान अपने और दूसरे के लिए भी भयानक और क्रूर प्रवृत्ति वाले होते है। अत शुक्ललेशी उन्हे त्यागता है। वह शुक्ललेशी जानता है कि ये दोनो ध्यान आत्मा को खोटी गति मे, नरकादि मे ले जाने वाले है और इनके कारण ही अनन्त जीव नरक मे चले गये है, चले जा रहे है और चले जायेंगे।

सज्जनो! ये दोनो ध्यान बिना किये ही, बिना बुलाये ही आ जाते है। किन्तु जिनमें ज्ञान होता है, वे अपने आपको इनसे बचा लेते है। शुक्ललेश्या वाला जीव आर्त्त और रौद्र ध्यान को छोडकर धर्म और शुक्ल ध्यान को अपनाता है। वह जहा भी जाता है, धर्म की ही बातें सुनता है और धर्म-चर्चा से उसकी आत्मा प्रसन्न होती है। शास्त्र मे ऐसे श्रावक के लिए भगवान् ने कहा है कि —"धम्मेण चेववित्तिकप्पे मागे विहरइ"। सज्जनो! श्रावक का दर्जा मामूली नही है, उसका दर्जा भी ऊंचा है। किन्तु केवल श्रावक नाम धरा लेने से ही काम नही चलता, उसके अनुसार गुण भी होना आवश्यक है। जिस प्रकार नाम तो राजा का हो, किन्तु पास में एक फूटी कौडी भी न हो तो वह राजा नाम सार्थक नही होता। राजा के अनुकूल गुण भी होना चाहिए।

धर्मध्यान क्या है ? जो जीव सामायिक-पौषध-तपादि, समाज-संघ-संगठन, स्वधर्मीवात्सल्य आदि धर्मक्रियाओ मे अभिरुचि

रक्खे और उन्हे देखकर प्रसन्न होता हो तो समझो कि वह धर्म-ध्यानी है। इसके विपरीत जो फूट-कलह मे, लड़ाई-झगड़े मे खुश होता हो तो समझो कि वह धर्मध्यानी नही है। उससे शुक्ललेश्या कोसो दूर है। धर्मध्यान वाले के चार आलम्बन है, चार अनु-प्रेक्षाए है।

जिस खटिया के चार पाए होते है, उसपर आराम से नीद आती है। किन्तु जिस खटिया का एक भी पाया टूटा हुआ हो या कम हो तो उसपर नीद आना तो दूर रहा, उल्टा सोने वाला उसपर से गिर पडता है और उसको चोट लग जाती है। इसी प्रकार धर्म-ध्यान को कायम रखने के लिए चार पाए बताये गये है। कर्मबध के जो कारण है, अर्थात् जिस-जिस कार्य को करने से कर्म बधते है, उनका विचार करे। अरिहन्तो, केवलियो, गुरुओ तथा शास्त्र की दो प्रकार की आज्ञाए है—निषेधात्मक और विधेयात्मक। इस काम को मत करो—यह तो निषेधात्मक आज्ञा है और इस काम का करो—यह स्वीकृत्यात्मक आज्ञा है। जो आज्ञा अरिहन्त, केवली और गुरु देगे, वह निरवद्य आज्ञा होगी। किन्तु जो गुरु सावद्य आज्ञा देते है और उसे भगवान् की और शास्त्र की आज्ञा बताते है, वे स्वय तो डूबेंगे ही किन्तु अपने साथ दूसरो को भी डुबायेंगे। जितनी भी क्रियाए हिंसा को लिये हुए है, वे सब साधु के लिए निषिद्ध है और कर्मबध को बढाने वाली है। ऐसी हिंसात्मक क्रियाए करके अनन्त जीव ससार में भटक रहे है और भटकते ही रहेगे। जब स्वय भगवान् सावद्य क्रियाए नही करते थे तो फिर शास्त्रों मे ऐसी आज्ञाए कहा से आ गई? गणधरो द्वारा शास्त्रो मे वही गूथा गया है जो भगवान् ने स्वयं अपने मुखारविन्द से फरमाया है। फिर गुरु भी शास्त्र-विरुद्ध

आज्ञा कैसे दे सकते है ? जो आज्ञा शास्त्र में नही है, जो पाप अनुमोदक हो, वह आज्ञा गुरु को नही देनी चाहिए। साधु के लिए तो साधु का आचार-व्यवहार ही मुख्य है। उसी को देखकर हम साधुत्व का निर्णय करते है, केवल वस्त्रादि के वदल लेने से नही। कहा है —

"इर्या भाषा एसणा आलेख लो आचार,
गुणवन्त साधु देखने वंदो वारम्बार।"

आचार-व्यवहार व चाल-ढाल से ही साधु की क्रिया का पता चलता है। साधु को सदैव निरवद्य भाषा प्रयोग मे लानी चाहिए। यह करो, वह करो, आओ, चले जाओ, इत्यादि इस प्रकार की आज्ञाए गृहस्थो के लिए साधु को नही देनी चाहिए। भगवान् की आज्ञा का पालन साधु को शुद्ध हृदय से करना चाहिए। भगवान् ने हिंसा, झूठ, अदत्त, मैथुन और परिग्रह इन पाच अश्रवो की कही भी आज्ञा नही दी है। उन महापुरुषो ने यदि आज्ञा दो है तो संवर की दी है। उन्होने फरमाया है—दया करो, हिंसा मत करो, झूठ मत वोलो, झूठ वोलने से आत्मा का विश्वास उठ जाता है। शास्त्रकार कहते है—"अविसासओ भूयाण"—झूठी आत्मा का विश्वास नही रहता। और एक वार विश्वास उठ जाने पर यदि वह सच भी वोलता है तो कोई उसकी वात को सत्य नही मानता। एक छोटी सी कथा है —

एक लडका भेड़-वकरियाँ चराने जंगल मे जाया करता था। एक दिन शाम को जव वह गाव के निकट पहुंच चुका था तो उसने झूठमूठ ही जोर से चिल्लाना आरम्भ किया कि वचाओ! वचाओ! भेड़िया आया, भेडिया आया। लोग आवाज़ सुनकर डंडे लेकर वहा पहुचे, किन्तु वहा तो लड़का हस रहा था

और भेड़िया तो था ही नही। लोगो ने सोचा कि इस लडके ने व्यर्थ ही हमे परेशान किया और वे अपने-अपने घर लौट गये। उस लडके ने इसी प्रकार दो-चार दफा झूठ-मूठ ही गाव वालों को परेशान किया। परिणामत. गाव वालो का उसपर से विश्वास उठ गया। एक दिन सचमुच ही भेड़िया आ गया और उसे देखते ही लडके ने चिल्लाना आरम्भ कर दिया। किन्तु अब उसका विश्वास कौन करता? उसकी मदद के लिए कोई भी नही गया और भेडिया लडके को घायल करके तथा एक भेड़ को उठाकर भाग गया। बहुत देर हो जाने पर भी जब लड़का लौटकर गाव में नही आया तो गाव वाले उसे ढूंढने चले। उसे जगल में घायल अवस्था मे पडा देख कर उठाकर गांव मे ले आये। कई दिन के उपचार के बाद वह लडंका स्वस्थ हुआ और उस घटना के बाद तो उसने झूठ बोलना हमेशा के लिए छोड दिया।

तो सज्जनो! कहने का आशय यह है कि उस लडके को अपने झूठ बोलने का यह बुरा परिणाम मिला। यह तो हुई इस जीवन में कष्ट पाने की बात। किन्तु यह झूठ तो आत्मा को जन्म-जन्मान्तर तक घायल करता जाता है। शास्त्रो मे आया है कि यदि साधु की चित्तवृत्ति भ्रष्ट हो जाये और ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाये, किन्तु यदि साल दो साल अथवा दस साल बाद भी उसकी आत्मा उपशान्त हो जावे, विकार भाव का दमन हो जाये, तो उसे फिर नये सिरे से दीक्षा दी जा सकती है. उसे फिरसे साधु बनाया जा सकता है। क्योकि गिर-गिर कर फिर उठ जाने वाला ही सवार कहलाता है। ऐसे उपरोक्त व्यक्ति को फिर से दीक्षित करके छ पदवियो में से आचार्य, उपाध्याय, गणावच्छेदक, स्थविर, प्रवर्त्तक आदि पदवी योग्यतानुसार दी जा सकती है।

किन्तु सज्जनो ! यह याद रखने की बात है कि साधु होकर, जो जान-बूझ कर झूठ बोलता है, उसे कोई भी पदवी नही दी जा सकती। ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट हो जाने पर तो पुन दीक्षा दी जा सकती है, पदवी दी जा सकती है, किन्तु झूठ बोलने वाले को पदवी नही दी जाती। हा, यह तो सच है कि छद्मस्थ अवस्था के कारण पूर्णसत्य तो नही बोल सकते, पूर्णसत्य तो मनसा-वाचा-कर्मणा-रूप केवली ही बोलते है, किन्तु फिर भी साधु को जानबूझ कर झूठ नही बोलना चाहिए।

महानुभावो ! झूठ बोलना महान् पाप है। झूठे आदमी का ससार मे कोई विश्वास नही करता। झूठ बोलने वाला व्यक्ति पाप-कर्म करने से भी भय नही खाता। वह सोचता है कि मेरे पास झूठ का ऐसा तेज हथियार है कि उससे काम लेकर अपने कुकृत्य से बच जाऊंगा। वह झूठा व्यक्ति लोगो को तो किसी तरह झूठ बोल कर धोखा दे सकता है, किन्तु परमात्मा को धोखा नही दे सकता। इसलिए ज्ञानी पुरुषो ने कहा है कि झूठ महान् पाप है। यदि किसी ग्राहक का दूकानदार पर अविश्वास हो जाये तो फिर वह उसके पास कभी नही जायेगा। लेकिन जो दूकानदार ईमानदार है और हमेशा एक ही बात कहता है, उसे चाहे दूकान जमाने मे पहले कुछ समय लग जाये, लेकिन फिर एक बार ग्राहको का विश्वास हो जाने पर सब उसी के पास जायेगे।

सज्जनो ! आप लोग जैन कहलाते है, आर्य कहलाते है, किन्तु असत्य बोलने के कारण आप पर जैसा विश्वास होना चाहिए वैसा विश्वास नही है। जबकि विलायत के लोग, जिनको हम अनार्य और म्लेच्छ कहते है, सदा एक ही बात कहने के कारण विश्वसनीय समझे जाते है। वे जो कुछ कहते है, जैसा माल दिखाते है, या

भेजते है, वैसी ही चीज निकलती है। आप लोगो की तरह ऐसा नही करते कि नमूना तो किसी प्रकार का दिखा दे और माल किसी और किस्म का भेज दे। किन्तु श्रावक के लिए कहा है—

"तप्पडिरूवगववहारे"

अर्थात्—जिस रग की वस्तु हो, उसमे उसी रग की दूसरी वस्तु मिलाकर वेचने से श्रावक को चोरी का दोष लगता है। एक तरफ तो आप प्रतिक्रमण करते है और वोलते है कि "चोर की चुराई वस्तु ला होय, चोर को सहायता दी होय" इत्यादि वोल कर—"मिच्छामि दुक्कड" देते है। किन्तु अपनी दूकान पर जाकर आप फिर वही चोरी करते है। ऐसा करना प्रतिक्रमण करने का अपमान करना है। ऐसे अविश्वसनीय लोगो पर से सबका विश्वास हट जाता है और उससे घृणा की जाती है। यदि किसी काले कवल पर स्याही ढुले तो उसमे वह रग मिल जाता है और वह वुरा नही लगता, लेकिन यदि किसी कीमती सफेद दुशाले पर स्याही ढुल जाये तो वह आखो मे वहुत खटकता है।

सज्जनो ! ससार मे सभी प्रकार के लोग है, भिन्न-भिन्न जातिया है। काली भी है और उज्ज्वल भी है, हीन जातिया भी है, उच्च जातिया भी है। हीन जाति के लोग इस तरह के बुरे काम करे तो अधिक बुरा नही लगता किन्तु श्रावक ही यदि ऐसा काम करे तो कितनी वुरी बात है। जो श्रावक सामायिक प्रतिक्रमण और पौषधादि करने वाला है, चौदह नियम चितारने वाला है, वही अगर ये काम करे तो कितनी अशोभनीय बात है। इसलिए याद रखना, अच्छी चीज मे वुरी चीज़ मिलाकर वेचना यह अतिचार है। ग्राहक जब तुम्हे दाम पूरे देता है तो फिर उसे वुरी

चीज देना, इससे वड़ा पाप और क्या हो सकता है ? अतः श्रावक का जीवन विश्वास करने योग्य होना चाहिए। प्रत्येक दृष्टि और पहलू से उसका जीवन निखरा हुआ होना चाहिए । उसमे प्रामाणिकता होनी चाहिए। पजाव मे लुधियाने के पास एक छोटा सा कस्वा है। वहा जैनो के १४-१५ घर है, किन्तु वहा वडे-वड़े साधुओ के चौमासे वडे ठाठ से होते है। आपके व्यावर मे जैनियो के करीव ६०० घर होने पर भी आप उनके धर्मध्यान का मुकावला नही कर सकते । वहां की मडी छोटी सी होने पर भी वड़े-वड़े शहरो से लोग वहां माल खरीदने आते है। इतना जवरदस्त व्यापार होने पर भी वहा के लोग पहले व्याख्यान सुनते है और वाद मे दूकान खोलते है। यहा पहले दूकानें खोली जाती है, पीछे व्याख्यान सुना जाता है।

सज्जनो ! उस कस्वे मे एक भाई वनारसीदास जी जैन रहते है। वे जाति के ओसवाल है और धर्म-प्रवृत्ति में तो उन्हे चौथे आरे का ही समझ लीजिए । अपनी युवावस्था से ही उन पति-पत्नी ने ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर लिया था। जव कट्रोल का जमाना था और वस्तुए ब्लैक से मिलती थी, तव यदि वे चाहते तो वे भी औरो के समान ब्लैक से सामान वेच सकते थे । किन्तु उन्होने तो उस समय दूकान ही वन्द करदी। उनका झूठ वोलने का त्याग था। वे चाहते तो लाखों रुपया प्राप्त कर सकते थे, किन्तु वे अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहे और वह समय घर पर ही शान्ति और सतोष के साथ विता दिया । उनका जीवन इतना मंजा हुआ है कि उनकी प्रामाणिकता की धाक दूर-दूर तक जमी हुई है। लोग वनारसीदास जी की वात को पत्थर की लकीर की तरह अमिट मानते है। उनकी प्रशसा की छाप केवल अपनी विरादरी में ही नही,

बल्कि जाट-जमीदारों मे भी फैल गई है। किसी भी उलझे हुए मामले मे चाहे और लोगो के निर्णय पर लोगो को विश्वास न हो, किन्तु उनकी बात का और उनके फैसले का विश्वास सभी को होता है।

अतएव महानुभावो ! ससार मे पूजा चमड़ी की नही, गुणो की की जाती है। लेकिन आज का मनुष्य तो ठगी और बेईमानी करके अपनी पूजा कराना चाहता है। हो सकता है कि बेईमानी से वह कुछ समय के लिए प्रतिष्ठा पा ले, किन्तु अन्त मे यह असत्य की और पाप की पुड़िया अवश्य खुलेगी। इसीलिए मै कहता हू कि मनुष्य का जीवन बड़ा मूल्यवान् और उपयोगी है। बार-बार यह मिलने वाला भी नही है। मै धर्मध्यान के चारपाए पर कह रहा था कि कर्म कहां से आते है और भगवान् की क्या आज्ञा है। भगवान् की आज्ञा है कि झूठ मत बोलो, चोरी मत करो, हिंसा मत करो, ब्रह्मचर्य का पालन करो और पदार्थो मे आसक्ति मत रक्खो।

भोग मनुष्य के लिए त्याज्य है। भगवान् कभी भोग का उपदेश नही देते। वे तो स्वय त्यागी थे। आज भगवान् के नाम पर लोग नाना प्रकार के नाटक खेलते है। वे समाज के साथ भगवान् को भी धोखा देने की कुचेष्टा करते है। सज्जनो ! भगवान् की आज्ञा सवर के लिए है, पाप और हिंसा के लिए नही। किन्तु आज मनुष्य सावद्य क्रियाओ मे भगवान् की आज्ञा बता कर स्वय तो डूबता ही है, अपने साथ औरो को भी डुबाता है। भगवान तो मुक्ति प्राप्त कर चुके किन्तु डूबेगे तो वे ही प्राणी, जो इस प्रकार का उल्टा कार्य करेगे। जो प्राणी धर्मध्यान वाला होता है, वह तो कर्मो के विपाक को सोचता है, कर्मफल को सोचता है कि

मैं जो झूठ बोल रहा हूं, चोरी कर रहा हूं, अथवा और कोई पाप-कर्म कर रहा हू सो मुझे उसका क्या फल भोगना पडेगा। इसके वाद सस्थान-विजय, यानी इस लोक का क्या सस्थान है, उसमे क्या-क्या वस्तुएं है, उनपर भी वह विचार करता है कि वह चौदह राजू का तो लवा है और घनाकार ३४३ राजु का चौडा है।

सज्जनो! इन वातो पर गहराई से विचार करना चाहिए। जिसका ध्यान इस तरफ नहीं जाता है कि मुझे कर्मो का फल भोगना पडेगा, या कर्म कहा से आते हैं, उसकी लेश्या ठीक नही रहती, क्योकि जो मस्तिष्क खाली होता है, उसमे कुछ न कुछ उल्टी वात ही उत्पन्न होती है। किन्तु जव प्राणी धर्म मे रत रहता है तो चित्त भी शान्त रहता है।

मैं यह वता रहा था कि शुक्ललेश्या वाला धर्म का विचार करता है, उसे सुलभवोधि जीव कहते है। उसके शुक्ललेश्या ही होती है। जो प्राणी आर्त्त और रौद्र ध्यान को छोडकर धर्म-शुक्ल ध्यान ध्याता है, वह सदैव प्रसन्न चित्त रहता है। जिसमे शुक्ल-लेश्या होती है, वह क्रोध मे नही जलता और सदैव प्रशान्त मुद्रा में दिखाई देता है। इसके विपरीत कुछ व्यक्ति ऐसे होते है जिनके माथे पर हमेशा सल पडे हुए रहते हैं और क्रोध की मुद्रा मे होते हैं। जहा ऐसा हो वहा यह समझना चाहिए कि यहा शुक्ललेश्या काम नही कर रही है। इसलिए हमारा कर्त्तव्य है कि स्वयं भी सदा प्रसन्न रहे और दूसरो को भी प्रसन्न रखे। क्रोध करने वाला और क्लेशी मनुष्य स्वय भी उसमे जलता रहता है और दूसरो को भी कष्ट पहुंचाता है। शुक्ललेश्या वाला जीव सदा कमल के समान

खिला रहता है। वह इन्द्रियो का दमन करता है, मन को इधर-उधर घूमने नही देता और पाच समितियो तथा तीन गुप्तियो को सदैव पालता है, मनादि को अपने वश मे रखता है। वह देखकर चलता है, विचार कर वोलता है, आहार-पानी शुद्ध गवेषणा करके लाता है तथा कोई भी चीज कही रखता है या उठाता है तो यह सव कार्य वड़े यत्न पूर्वक करता है। उसकी प्रत्येक क्रिया मे सावधानी रहती है।

सज्जनो ! मै आपके यहाँ के विवेक के विषय मे क्या कहू। हम यहाँ से व्याख्यान करने के पश्चात् परसो स्थानक मे जा रहे थे तो किसी ने ऊपर से विना ही नीचे देखे पानी डाल दिया, छीटो से साधु जी के कपड़े खराव हो गये, घर भी वह जैनो का ही है, यह वड़े अविवेक की वात है। तुम तपस्या करते हो, धर्मक्रियाए करते हो, किन्तु यदि इतना करने पर भी तुममे विवेक नही आया तो तुम्हारी वे सारी क्रियाए शून्य है, व्यर्थ है। इसलिए सवसे पहले तुम्हारा जीवन-स्तर ठीक होना चाहिए। आज भी मै गली मे से आ रहा था तो एक वाई ने पानी फेंका। वह देख रही थी एक तरफ और पानी फेक रही थी दूसरी तरफ। खैर भाग्य से हम तो वच गये। यह अच्छा हुआ कि मै उधर की वाजू नही था, अन्यथा गगा-स्नान हो जाता।

माताओ ! यह कितने अज्ञान की और शर्म की वात है। कितनी धृष्टता है कि नीचे दुनिया चली जा रही हो और महिलाएं ऊपर से विना देखेभाले पानी और कूडा-करकट फेंकें। जव तुम्हारा लौकिक जीवन ही ठीक नही है तो तुम अपना लोकोत्तर जीवन कैसे सुन्दर वना सकती हो। अत. कोई भी चीज फेकने में विवेक की आवश्यकता है।

सज्जनो ! विवेक रखने से ही यह लोक और परलोक सुधरता है। जिसका यह लोक विवेकशून्य है, उसका परलोक भी अन्धकार-मय ही होगा। कई लोगों की यह धारणा है कि नाली मे पानी डालने से पाप होता है, अत सडक पर डालना चाहिए। अरे ! सड़क पर भी डालना हो तो उसे नीचे न आकर अयत्नपूर्वक तो नही डालना चाहिए। इसलिए बहनो ! इस फकीर के कहे हुए ये थोड़े-से शब्द याद रखना और भविष्य म अयत्नपूर्वक कार्य न करने का ध्यान रखना। कई लोग केले खाकर छिलके सडक पर फेंक देते है। परिणामस्वरूप लोग फिसलकर गिर पड़ते है। ऐसा करना भी पाप है। याद रखना कि प्रत्येक कार्य मे धर्मोपार्जन किया जा सकता है, यदि उसे विवेकपूर्वक किया जाये तो, अन्यथा अविवेक-पूर्वक किया गया प्रत्येक कर्म पाप बन जाता है।

हा, तो सज्जनो ! मैं शुक्ललेश्या वाले जीव के लक्षणो के विषय में कह रहा था। मैंने बताया कि वह पांच समितियो और तीन गुप्तियों का ठीक तरह से पालन करता है। शुक्ललेश्या सरागी और वीतरागी दोनों में होती है। ग्यारहवे गुणस्थान में उपशान्त कषाय वीतरागी है, बारहवे—तेरहवे—चौदहवे मे क्षीण कषाय वीतरागी है, यानी उन्होने जड से ही राग को नष्ट कर दिया है। शुक्ललेश्या वाले जितेन्द्रिय होते है। वे इन्द्रियो को वश में रखते है। शास्त्रो मे आया है कि जो जीव समकित-दर्शन में रत होते है, शुक्ललेश्या मे बरतने वाले होते है, उन्हे समकित प्राप्त होना सुलभ हो जाता है। वे जहा भी जायेगे, उन्हे धर्म मिल जायेगा और भगवान् की वाणी श्रवण करने का सौभाग्य भी प्राप्त होगा।

किन्तु जो जीव इसके विपरीत आचरण करने वाले है, यानी जो खोटे देव-गुरु-धर्म पर अधविश्वास रखते है, नियाणा करके अपनी करनी का फल वेचने वाले है, और जो कृष्णलेश्या मे वरत रहे है, उन्हे समकित और धर्म की प्राप्ति होना दुर्लभ है। जो पाच अश्रवो मे प्रमादी है, हिसा-झूठ-चोरी-मैथुन-परिग्रहादि मे फसा हुआ है, पॉच समितियो और तीन गुप्तियो से जो मुक्त नही है, जो छ काय के जीवो की हिंसा से निवृत्त नही हुआ है, जिसके मन मे पाप की तीव्र भावना कार्य कर रही है, जो निश्शक होकर पापकर्म मे रत है, शिक्षा और उपदेश का जिसपर उल्टा ही असर होता है—ऐसे लक्षणो वाला जीव कृष्णलेश्या वाला होता है। ऐसे जीव आरम्भ करके भी खुश होते है।

सज्जनो ! किसी एक मुनि ने एक सेठ जी से कहा—सेठ जी ! ऐसे मोटे-मोटे पाप मत करो। ऐसे पाप करने से नीच गति मे जाना पडता है। नरक का कष्ट भोगना पडता है। यह सुनकर सेठ जी पूछने लगे कि—मुनिराज ! नरक कितने है ? मुनिराज ने उत्तर दिया कि नरक सात है।

यह उत्तर सुनकर सेठ जी ने कहा कि—महाराज वस, नरक सात ही है ? मैने तो पन्द्रहवे नरक तक के लिए कमर कस रक्खी है, अस्तु।

सज्जनो ! जो इस-प्रकार के घोर पापकर्मी जीव हो, उन्हे ज्ञान भी दिया जाये तो उसका क्या लाभ हो ? मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि श्रावक की सासारिक क्रियाओ मे रूक्ष वृत्ति होनी चाहिए। उसे यही सोचना चाहिए कि जितना आरभ टल जाये, उतना ही अच्छा [illegible] उसके कार्य मे आसक्ति नही होनी

चाहिए। यदि तुम्हे यह विश्वास हो जाये कि अमुक गली मे भूत रहता है तो फिर तुम उधर से निकलने को हिम्मत नही करते। यदि मजबूत होकर उधर से जाना ही पड़े तो तुम वहा तनिक भी ठहरोगे नही, चुपचाप शीघ्रता से भाग जाओगे कि कही भूत पकड न ले।

तो तुम उस भूत से तो इतना डरते हो, किन्तु साक्षात् पाप रूपी भूत से जरा भी नही डरते, यह कितने दु ख की बात है। वह लगा हुआ भूत तो फिर भी मत्र-तत्र से दूर किया जा सकता है किन्तु इस पाप रूपी भूत के एक बार लग जाने पर तो फिर किसी तत्र-मत्र का उपाय नही चलने का। हां, जिन लोगो को उस पाप रूपी भूत का विश्वास हो गया है, वे फिर पापकर्मो से डरते है और यथासंभव पाप करने से बचते रहते है।

हा, तो मै कह रहा था कि मनुष्य मे शुक्ललेश्या होनी चाहिए। कृष्णलेश्या वाले की भावना तीव्र हिंसा आरभ करने की होती है। वे तो अपने पापकर्म से प्रसन्न होते है और कहते हैं कि देखो, मैंने एक ही झटके मे बकरे का सिर धड से अलग कर दिया। ऐसा जीव कृष्णलेश्या वाला होता है। कृष्णलेश्या का वर्ण चिरमी के मु ह, आख की काली टीकी, पानी से भरे हुए काले बादल, काले तवा और अमावस्या की रात के समान काला होता होता है। जो शीशा काला होगा, उसमें से देखी जाने वाली सारी वस्तुए भी काली ही नजर आयेगी। ठीक इसी प्रकार जिस जीव में कृष्णलेश्या कार्य कर रही है, उसके समस्त कार्य भी खोटे और पापमय ही होगे। वह गुणो मे भी अवगुण ही देखता है।

सज्जनो! एक सुन्दर और स्वच्छ महल मे यदि कोई कीडी चली जाये, तो क्या वह महल की सुन्दरता देखकर प्रसन्न होगी?

नही, उसे तो एक ही वस्तु की तलाश रहेगी कि कही कोई छिद्र मिल जाये। उसे ढूंढकर वह उसी में घुस जाती है और प्रसन्न होती है। इसी प्रकार मक्खी का स्वभाव है कि वह समस्त स्वच्छ वस्तुओ को त्याग कर गंदगी पर ही जा बैठती है और उसे ही ग्रहण करती है। जोक को भी सदा खराव-गदा खून ही पसन्द आता है। उसे किसी रोगी के शरीर पर लगा दिया जाये तो वह अच्छे खून को छोडकर खराव खून को चूसती है। उसे यदि किसी भैस के थन पर लगाया जाये तो वह उस अमृतमय दूध को ग्रहण नही करेगी।

सज्जनो! ठीक इसी प्रकार कृष्णलेश्या वाले जीव होते है। वे सव जगह अवगुण ही देखते है। वे सोचते है कि हम गुप्तरूप से बडी सफाई से पाप कर रहे है, जिसे कोई भी नही देख पाता किन्तु ज्ञानी पुरुषो से उनका पाप छिपा नही रह सकता। क्षुद्र पुरुष पापकर्म मे सवसे आगे रहते है। वे औरो को भी पापकर्म करने के लिए उद्यत करते है। वनी हुई वात को विगाडने मे उन्हे आनन्द प्राप्त होता है। भाइयो! यदि कोई प्रकाशन साधु-सघ के सुधार के लिए आता है तो उसका स्वागत होना चाहिए, आदर होना चाहिए। उसकी सहायता से साधु-सघ को ऊंचा उठाने का प्रयत्न करना चाहिए। अभी मरुधर केशरी मत्री मुनि मिश्रीमल जी महाराज का 'तरुण जैन में' एक लेख आया है। उसको लेकर यहां के कुछ लोगो ने गलत प्रचार करके श्रमण-सघ को वदनाम करना चाहा है। मरुधर जी श्रमण-सघ को वदनाम करने का या भग करने का दुस्साहस भला कैसे कर सकते हैं, मैं गलत प्रचार वाले सज्जनो से कहूगा कि वे ऐसे भ्रातिजनक कार्य करने से वचे।

सज्जनो ! आप लोगों को ऐसे विघ्न-संतोषी व्यक्तियो से सावधान रहना चाहिए। श्रमण-संघ हमने बनाया है, वह हमारा है और हम उसके हैं। इसकी कड़िया यदि मजबूत हैं तो वे टूटने वाली नही है। हां, दुर्भावनाए रखकर मनुष्य पाप का भागी अवश्य बन सकता है। भावना ही पाप और पुण्य का निर्माण करती है। श्रमण-संघ की कड़िया मजबूत बनाओ। हां, यदि उसमे कुछ त्रुटियाँ हो तो उन्हे धीरे-धीरे प्रयास करके दूर किया जा सकता है और कर देना चाहिए।

महानुभावो! भारतवर्ष को स्वतन्त्र हुए आठ वर्ष हो गये हैं। हमारे श्रमण-संघ को बने अभी चार ही साल हुए हैं। जरा विचार कीजिये कि जिस सरकार के पास सब प्रकार के सैनिक और अन्य साधन हैं, वह भी जब अबतक अपनी सब त्रुटियो को दूर नही कर सकी है तो हमारे पास तो उतने साधन भी नही है। आशय यह है कि सुधार और उन्नति और धीरे-धीरे ही हुआ करते है। भारतवर्ष भी लौकिक क्षेत्र में धीरे-धीरे उन्नति के रास्ते पर बढ रहा है। आज विदेशो मे भारत की इज्जत है उसकी बात मे वज़न है, उसकी सलाह ली जाती है। श्रीनेहरू जी आज संसार मे शान्ति के अग्रदूत माने जाते हैं।

हां, तो सज्जनो! क्या यह सब एक ही दिन मे हो गया था? इतना कुछ होने मे समय लगा है। लोगो ने सहयोगपूर्वक देश के निर्माण मे हिस्सा बटाया है और यथाशक्य तन-मन-धन से सहायता की है, तब कही जाकर यह सब सम्भव हो पाया है। वैसे आज भी भारत में विरोधी दल है। सरकार को वे गालियां देते है, गलत प्रचार करते है, उसके काम मे बाधा भी डालते है। किन्तु क्या

सरकार इन विरोधो से दबकर अपना कार्य करना छोड़ सकती है ?

मै कहना चाहता हू कि विरोध भी होता है, किन्तु वह उन्नति के लिए, अवनति के लिए नही। किसी न किसी समय विरोध आवश्यक भी होता है। किन्तु उसमें विवेक होना चाहिए। उसमे कोई सिद्धान्त होना चाहिए। जिस विरोध मे ईर्ष्या और स्वार्थ-वृत्ति की भावना काम कर रही हो तो वह स्वय के लिए हितावह नही हो सकता। उसका परिणाम कभी अच्छा नही हो सकता।

आज धर्म की आड को लेकर जो इतनी गड़बड़ हो रही है, वे किसी अच्छी भावना से नही है। इसके पीछे धर्म की उन्नति अथवा किसी ऊचे आदर्श का उद्देश्य नही है। इसके पीछे केवल स्वार्थमय निकृष्ट भावनाए ही काम कर रही है। किन्तु याद रखना, श्रमण-सघ हमारा है और हम उसके है। जब तक इसके सब सैनिक जीवित है, इसपर चाहे हजारो आक्रमण हो, वह अडिग ही रहेगा। इसकी उन्नति और मजबूती के लिए ये सैनिक अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देगे।

सज्जनो ! आज कुछ सम्प्रदाय-मोहाध लोग इस घात मे है कि किसी प्रकार श्रमण-सघ टूट जाये। धिक्कार है ऐसे विचारो को और ऐसे विचार रखने वाले स्वार्थी व्यक्तियो को। एक घर मे पाच-दस आदमी होते है। उनके विचार भी पृथक्-पृथक् होते है। किन्तु इस वजह से पिता घर छोड़कर चला नही जाता। घर के झगड़ो को वह विचार-विमर्शपूर्वक दूर करने का प्रयत्न करता है।

उपस्थित महानुभावो ! श्रमण-सघ भी एक विशाल परिवार है, समुदाय है। इसमे अनेक नये और पुराने विचारो के साधु-

साध्वियां हैं। यह विचारो का नयापन और पुरानापन तो अनादि काल से चला से आ रहा है। यह कोई आज की ही वात नही है। अत. एक-दूसरे के उचित विचारों का समन्वय करके चलने मे ही वुद्धिमत्ता है। श्रमण-संघ तो आगे ही वढ रहा है और वढता जायेगा। ये विरोधी तत्त्व अपने आप ही एक दिन नष्ट हो जायेगे। ये तो वरसात के मेढक है। कुछ दिन टर्र-टर्र कर लेगे और फिर ऐसे गायव होगे कि पता ही नही चलेगा।

इसलिए भद्रपुरुषो ! अपनी भावना को पवित्र और मजवूत करो। किसी भी तरह के निरर्थक विचार न करो और अपने घर को मजवूत करो। हां जहा-जहां त्रुटि नजर आये, उसे अवश्य दूर करो, उसकी तरफ से आँख वन्द मत करो।

सज्जनो ! जीवन की उन्नति के सही मार्ग को आँखे खोलकर देखो और उसको अपनाओ। धर्म-ध्यान मे प्रवृत्ति वढाओ, निन्दा और चुगली से दूर रहो। जो धर्म-ध्यान ध्याते है, शुक्ललेश्या को धारण करते है, वे ससार-समुद्र से पार हो जाते है।

व्यावर }
३१-८-५६ }

: ४ :

आज्ञारुचि

वीरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो वीरं बुधाः संश्रिताः,
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्यं नमः।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं वीरस्य घोरं तपो,
वीरे श्रीधृतिकीर्तिकान्तिनिचय. हे वीर ! भद्रं दिश ॥

× × ×

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराः पूज्या उपाध्यायकाः।
श्रीसिद्धान्तसुपाठका मुनिवरा रत्नत्रयाराधकाः,
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

धर्मबन्धुओ और भगिनियो !

पर्वाधिराज पर्युषण का आगमन हुआ और समाप्ति भी हो गई। किन्तु उन आठ महामगलमय दिवसो मे आपने जो आध्यात्मिक साधना की है, जो सत्सस्कार सचित किये है, उनका प्रभाव अगर शेष दिनो में, आपके जीवन-व्यहार मे स्थायित्व प्राप्त कर सका तो आपका परम कल्याण हो सकेगा। इस महापर्व के दिनो में आपको मैने श्रीमद्अन्तकृद्दशाग सूत्र का श्रवण कराया और नवे दिन क्षमायाचना का दिन होने से व्याख्या के लिए अवकाश नही था।

कल आपको तप का महत्त्व समझाया गया था। तप का स्वरूप बतलाते हुए मैने यह दिग्दर्शन कराया था कि इस विषय

में हमारे तीर्थंकरो, आचार्यों तथा धर्मगुरुओ का ठीक-ठीक क्या दृष्टिकोण रहा है ? मैंने तप के बाह्य एव आभ्यन्तर भेदो पर भी प्रकाश डाला था और बतलाया था कि दोनो प्रकार के तप अपने-अपने स्थान पर अपनी-अपनी प्रधानता रखते है । इनमें से किसी को छोटा और किसी को बड़ा अथवा एक को ऊंचा और दूसरे को नीचा नही कह सकते । मनुष्य के शरीर में दो हाथ होते है और दोनो अपनी-अपनी जगह प्रधान है । दोनो मे से किसी भी एक हाथ के कट जाने से मनुष्य अंगहीन कहलाता है और एक हाथ से प्रत्येक क्रिया सुचारु रूप से करने मे असमर्थ हो जाता है, लाचार बन जाता है । ऐसा व्यक्ति धोती पहनने, पगड़ी बांधने, यहां तक कि अशुचि साफ करने तक से वंचित हो जाता है । अभिप्राय यह है कि एक हाथ वाला व्यक्ति शरीर सबधी प्रत्येक क्रिया करने के लिए छटपटाता है । दोनो हाथो से सुगमतापूर्वक जो क्रियाए हो सकती थी, उनसे वह वचित रहता है ।

ठीक इसी प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर तप के विषय में समझना चाहिए । दोनों तप दोनो हाथो के समान है । केवल ज्ञान प्राप्ति के लिए जो क्रिया होने वाली है, अनादिकाल से जन्म-जन्मान्तर मे आवागमन के चक्कर मे फसे हुए जीव के कर्मक्षय की जो क्रिया होने वाली है और मोक्ष में अनाबाध अनन्त सुख प्राप्त करने के लिए जो क्रिया होने वाली है, वह इन दोनों प्रकार के तपो का आचरण करने से ही होने वाली है । दोनो हाथो की भाँति दोनो तप अपने-अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण है । दोनों अपना-अपना कार्य करते है । दोनो एक-दूसरे के सहायक और पूरक है । दोनो में परस्पर विरोध नही, बल्कि सामजस्य है ।

सज्जनो ! जहां दोनों हाथों मे विरोध उत्पन्न हो जाता है, वहा क्रिया मे भी विरोध आ जाना सम्भव है , वल्कि यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि वहा क्रिया मे गड़बड़ हुए विना रह ही नही सकती । क्रिया की गति रुक जाती है ।

कल वतला चुका हूं कि आभ्यन्तर तप कार्य है तो वाह्य तप कारण है । इस प्रकार दोनो में साध्य-साधन का संवंध है, अतएव दोनो प्रकार के तप करने की आवश्यकता है । प्रथम वाह्य तप को हमें आगे से आगे ले जाना चाहिए और जव हमारी आत्मा वाह्य तप करते-करते डगमगाने लगे, आत्मा की श्रद्धा शिथिल होने लगे, तप के प्रति अश्रद्धा होने लगे और जो तप श्रद्धा को सुदृढ करने वाला था, वही आत्मा मे विचलित अवस्था उत्पन्न करने लगे, तव हमारे लिए उचित है कि हम अपनी गाडी का वही पर, उसी दम, मोड वदल दे । जव वाह्य तप हमारी इन्द्रियो, मन और हृदय की मोक्ष-गामिनी गति मे विघ्न डालने लगे, कषायो का ह्रास करने के वदले वढाने में सहायक हो जाये और आभ्यन्तर तप मे वाधक प्रतीत होने लगे, उस समय वाह्य तपश्चरण को ढीला छोड़ देना ही समुचित है । अर्थात् वाह्य तप करते-करते जव क्रोध आदि कषायों का आवेग और अधिक वढ जाए तो हमे चाहिए कि हम उस तप को रोक दे ।

वाह्य तप मन, इन्द्रिय और हृदय की शक्ति को नष्ट कर देने के लिए नही है , क्योकि इनकी शक्तिया ही अगर नष्ट हो गईं तो वह तप हमारे क्या काम आया ? जिसकी मूल-पूंजी ही खत्म हो गई, उसका व्यापार ही ठप्प हो गया समझो । अतएव ज्ञानियो ने वतलाया है कि हमे शरीर, इन्द्रिय, मन और हृदय की क्षमता को नष्ट नही करना है, किन्तु उनके भीतर बैठे हुए विकारो

को नष्ट करना है। इन्द्रियां, मन, शरीर और हृदय तो हमारी साधना मे अनिवार्य रूप से उपयोगी है, उनसे हमे काम लेना है, उन्हे नष्ट नही करना है। आधारभूत पदार्थ के नष्ट हो जाने पर आधेय द्रव्य किसके सहारे टिकेंगे ? हृदय सद्विचारो और ज्ञानियो के उपदेश का धारण करने वाला पात्र है, अगर वही नष्ट हो गया तो उन्हें कहां धारण करेगे ? हृदय मे धारण करने योग्य चीजों को तो हृदय ही धारण कर सकता है। इसी प्रकार इन्द्रिया नष्ट हो जायेगी तो कैसे काम चलेगा ? श्रोत्रेन्द्रिय से शास्त्र-श्रवण, चक्षु-इन्द्रिय से दुखी जनो के दुख देखना, मार्ग का निरीक्षण करना, गुरुदर्शन करना, भोजनशुद्धि का निरीक्षण करना, रसना-इन्द्रिय से गुणी जनों का गुणगान करना, घ्राणेन्द्रिय से महापुरुषो के सत्य-शील की सुवास लेना, स्पर्शेन्द्रिय से स्पर्श का अनुभव करना, दुखियो की सेवा करना आदि-आदि जो आत्म-विकास की प्रवृत्तिया है, वे किस प्रकार हो सकती है ? अतएव हमें शरीर की रक्षा करनी है, इन्द्रियो को भी सुरक्षित रखना है और मन तथा हृदय को भी आघात नही पहुचाना है, किन्तु इनमें जो विकृतिया आकर प्रविष्ट हो गई है, उन्हे भर नष्ट करना है।

इस प्रकार साधक को पाचों इन्द्रियो की, शरीर, हृदय और मन की रक्षा तो करनी ही होगी। हा, इनकी रक्षा करते हुए इनमे घुसे विकारो को बाह्य तप द्वारा नष्ट भी करना होगा। इन सबकी शक्ति का सही रूप मे सदुपयोग करना होगा। शरीर का काम शरीर से, इन्द्रियो का काम इन्द्रियो से, मन का काम मन से और हृदय का काम हृदय से करना होगा।

सज्जनो ! हमें मक्खन को ही निकाल कर नही फेंकना है, किन्तु घृत बनने में बाधक जो छाछ है, उसे तपा कर हटा देना

है । वस्त्र नही फेंक देना है, मगर उसपर चढे मैल को धोकर निकाल देना है । इसी प्रकार चादी और सोने को नही फेंक देना है, किन्तु उनमें मिश्रित हुए मल को नष्ट करना है ।

चादी और सोने को निर्मल बनाने के लिए तपाना होता है । आग मे तप कर सोना सौ टच का बन जाता है । चादी को भी ताप देना पडता है । मगर उस ताप की मर्यादा होती है । ताप-मर्यादा का ख्याल न रखा जाये और अंधाधुध ताप दे दिया जाये तो सोने-चादी का शुद्ध होना दूर रहा, उनकी राख बन जायेगी । लेने के देने पड जायेंगे । अतएव उनको तपाने मे सावधानी और होशियारी रखनी पडती है और तभी शुद्ध सोने-चादी की प्राप्ति हो सकती है ।

आशय यह है कि हमे इन्द्रिय आदि साधनो को नष्ट नही करना है, मगर उन्हे सही-सलामत रखते हुए उनके विकारो को नष्ट करना है ।

विकारो को नष्ट करने की भावना और उत्कठा उसी के अन्तः-करण मे उत्पन्न होती है, जिसने कर्मसिद्धान्त को समझ लिया है, जिसे यह मालूम हो गया कि चादी-सोने मे मैल है, वही उसे दूर करने का प्रयत्न करता है । इसी प्रकार जो कर्मो के स्वरूप को समझ लेगा, वही उन्हे दूर करने की कोशिश करेगा । जिसे कर्मसिद्धान्त का ज्ञान ही नही है, जो यह नही जानता कि कर्म क्या है, किस प्रकार आत्मा के साथ बद्ध होता है, कैसे और कब उदय मे आकर फल देता है, उसका आत्मा पर क्या प्रभाव पड़ता है आदि, वह कर्मों को दूर करने का प्रयत्न भी नही कर सकता ।

इस प्रकार कर्मो को दूर करने की चेष्टा वही करेगा जो सम्य-ग्दृष्टि वाला है, शुद्धदृष्टि वाला है । ऐसा ही व्यक्ति इन्द्रियदमन

करने की भी चेष्टा करेगा। शास्त्र में इन्द्रिय के लिए 'दमन' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है काबू में कर लेना ; परन्तु कही भी इन्द्रियो को नष्ट करने का विधान नही है।

मिथ्यादृष्टि कर्मसिद्धान्त के वास्तविक स्वरूप को समझ नही पाता। अतएव वह कर्मो को नष्ट करने के बदले अधिकाधिक कर्म बांधता चला जाता है। सम्यग्दृष्टि जीव को आप समदृष्टि, समभावी, समकिती, शुद्ध श्रद्धावान्, यकीन वाला या सच्ची फेथ (Faith) वाला, या विश्वास वाला कह सकते हैं। यह सब नाम सम्यग्दृष्टि वाले के है। व्यंजनों में अन्तर हो सकता है, आशय में अन्तर नही है।

भद्रपुरुषो ! मैने पहले कहा था और आज फिर स्मरण दिलाता हू कि समकित बाजार में मोल मिलने वाली वस्तु नही है, जमीन में उगने वाला पौधा नही है, वृक्ष मे लगने वाला फल नही है, विनिमय या लेन-देन की चीज नही है। यह तो आत्मा की अपनी विभूति है। वह विभूति सदैव आत्मा में विद्यमान रहती है, मगर आवरण के कारण दिखाई नही देती। उस आवरण का निवारण कर देना पुरुषार्थ का प्रयोजन है, साधना का उद्देश्य है। आत्मा स्वभावत सम्यक्त्व रूप ही है। मिथ्यात्व उसका स्वभाव है ही नही। उस सम्यक्त्व स्वभाव का आविर्भाव करने के शास्त्रकारो ने दस कारण बतलाये हैं।

उन दस कारणो मे से निसर्ग से उत्पन्न होने वाली निसर्ग-रुचि और उपदेश रूप निमित्त से उत्पन्न होने वाली उपदेश-रुचि के विषय में पहले के प्रवचनो म विस्तार से विवेचन कर चुका हू। आज सम्यक्त्व-प्राप्ति के तीसरे कारण का विवेचन करना है और वह है आज्ञारुचि सम्यक्त्व।

सज्जनो ! यह कहने की आवश्यकता नही कि जिसकी अटी मे दाम होते है, वह बाजार मे मनचाही चीज खरीद सकता है। किन्तु यदि उस चीज का ही अभाव हो या दूकानदार दूकान पर न हो तो दाम होते हुए भी वह चीज उपलब्ध नही हो सकती। यद्यपि चीज उन दामो से ही मिलती है, मगर दाम लेकर बदले मे चीज देने वाला दूकानदार भी होना चाहिए। दूकानदार नही है तो भले ही आप सुबह से शाम तक बाजार मे चक्कर काटते रहिए, आपका प्रयोजन सिद्ध नही होगा। आपको निराश होकर अपने घर लौटना पड़ेगा।

इसी प्रकार समकित-रूपी माल दर्शनमोहनीय एव अनन्तानुबंधी चौकडी के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम रूपी दाम से ही मिल सकता है, मगर उस माल के विक्रेता गुरु महाराज का होना भी आवश्यक है। जब गुरु रूपी दूकानदार दूकान पर उपस्थित होगे तो बड़ी सहूलियत के साथ समकित की प्राप्ति हो जायेगी।

इस प्रकार सम्यक्त्व की प्राप्ति का तीसरा कारण आज्ञारुचि है। आज्ञारुचि का अर्थ है—तीर्थंकर, आचार्य, गुरु महाराज या शास्त्र की आज्ञा मानना। जो आज्ञा मानने को तैयार नही उस आत्मा को सम्यक्त्व प्राप्ति भी नही हो सकती। कारण यह है कि गुरु महाराज समकित की प्राप्ति के लिए वे आज्ञाए देगे, ऐसी-ऐसी साधनाए और क्रियाए बतायेगे, जो आत्मा के लिए हितकर एव लाभदायक होगी। शिष्य को, चेले को उन आज्ञाओ को शिरोधार्य करने के लिए 'ननु-नच' नही करना होगा, किन्तु 'तहन्ति' कहकर पूर्ण श्रद्धा-विश्वास के साथ उन आज्ञाओ को मानना होगा और फिर दूसरी आज्ञा के लिए पूर्ण उत्साह के साथ माँग करनी होगी।

सज्जनो ! रोगी का कर्त्तव्य है कि वह हितावह औषध पर और औषध देने वाले वैद्य पर भरोसा रक्खे । जिस रोगी को वैद्य पर विश्वास नही, जो सोचता है कि यह वैद्य मझे कही विप न दे दे और मुझे मार न डाले, उस रोगी का इलाज नही हो सकता, वह स्वास्थ्य लाभ नही कर सकता । सचाई तो यह है कि रोगी वैद्य पर अखण्ड श्रद्धा रक्खे । रोग का उपशमन करने के लिए वैद्य जो चाहे सो औषध दे—चाहे अमृत दे या विप दे, रोगी को सहर्ष और विश्वासपूर्वक उसे ग्रहण करना चाहिए ।

यहां यह कह देना भी आवश्यक है कि जैसे गुरु पर अखण्ड और अविचल श्रद्धा रखना शिष्य का कर्त्तव्य है, उसी प्रकार गुरु को भी ईमानदार, निर्लोभी और अनुभवी होना चाहिए । वैद्य लोभी, लालची और अनुभवहीन है तो उसको दवा पर विश्वास न रखना ही हितकर होगा । जो उसपर विश्वास कर लेगा, वह हानि उठायेगा और अन्त मे उसे काल के गाल मे चला जाना पडेगा ।

हमारे वैद्य तीर्थंकर, आचार्य और गुरु ऐसे वैद्य है जो स्वार्थ से परे है और जिनका अवतार स्वय नीरोग होकर दूसरे रोगियों को रोग मुक्त करने के लिए ही होता है । वे तीर्थंकर , आचार्य और गुरु ही क्या जिनमें स्वार्थलिप्सा और मारणवुद्धि है? जिसमे स्वार्थ-वुद्धि है, वह देव नही, गुरु नही, आचार्य नही और धर्म नही है । वह तो गुरु के वेप में ठग है, लम्पट है और धोखेबाज है । वह अपने कर्त्तव्य से पिछड़ा हुआ है । वह मानव नही दानव है ।

तो जैसे रोगी को रोग से मुक्ति पाने के लिए वैद्य तथा उसकी दवा में विश्वास रखना होता है, उसी प्रकार गुरु, शिष्य के हित की दृष्टि से जो आज्ञा दे, जो मार्ग वतलाये, उसे उसको निश्शक होकर, पूर्ण श्रद्धा के साथ स्वीकार करना चाहिए । उसे आज्ञा का

पालन करना चाहिए और प्रदर्शित पथ पर ही चलना चाहिए। वहा अगर, मगर, क्योकि, परन्तु, किन्तु, लेकिन आदि शब्दो की जरा भी गु जाइश नही है। शिष्य के मन मे एक ही भाव होना चाहिए—गुरु की आज्ञा हो और हम वजाने को तैयार है। सच्चा गुरु वही मार्ग दिखलायेगा जो सीधा, सरल और हितकर होगा। आचार्य या गुरु वह मार्ग कभी नही दिखलायेंगे जो सम्यक्त्व से प्रतिकूल होगा। वे उन क्रियाओ एव साधनाओ को अपनाने की कदापि आज्ञा नही देगे जो मिथ्यात्व की ओर अथवा आत्मपतन की ओर ले जाने वाली होगी। क्योकि आज्ञा वजाने वाले की उतनी जोखिम और जिम्मेदारी नही है, जितनी जिम्मेदारी आज्ञा देने वाले की होती है। वैद्य स्वयं विचारता है कि जो मैंने ऐसी-वैसी दवा दे दी और उससे रोगी को हानि पहुंच गई तो मेरा विश्वास उठ जायेगा और कानन के अन्तर्गत मुझे कारागार की यात्रा भी करनी पड़ सकती है। इसी प्रकार गुरु भी अपने उत्तर-दायित्व का पूरा ध्यान रखता है और आगा-पीछा सोच-समझ कर ही किसी प्रकार की आज्ञा देता है।

अव हमे इस वात पर विचार करना है कि गुरु की आज्ञा को कौन शिरोधार्य कर सकता है? गरु-आज्ञा को वही लघुकर्मी जीव शिरोधार्य करता है जिसके राग, द्वेष, मोह और अज्ञान—यह चार दोप मन्द पड़ गये हो और क्षीण होते जाते हो। ऐसी योग्यता वाला व्यक्ति ही गुरु-आज्ञा का पालन करने मे समर्थ हो सकता है। इसके विपरीत, जिसे उस चतुरगी सेना नें या चाण्डाल-चौकडी ने चारो ओर से घेर रक्खा है, वह आज्ञा पालने मे समर्थ नही हो सकता। उक्त चारो दोष आज्ञा-पालन में वाधक तत्व है।

आज हम प्रत्यक्ष देख रहे है कि गुरु अपने साधु-साध्वी को, चेले-चेली को या श्रावक-श्राविका को आज्ञा देता है, परन्तु कितने ही ऐसे है जो उसका पालन नही करते है। तो ज्ञानियो से उनकी कोई वात छिपी हुई नही है, जैसे दाई से पेट को कोई नस छिपी हुई नही है। ज्ञानियो ने हमारी आत्मा को अच्छी तरह परखा है और कसौटी पर कसा है। तो खुले शब्दों मे कहना पड़ेगा कि जिनमें उक्त चारो वातो की प्रवलता है, फिर वे चाहे कोई क्यों न हो, आज्ञा के पालक नही हो सकते और उन्हे समकित की प्राप्ति नही हो सकती।

सज्जनो! गुरु वही आज्ञा देता है जो आत्मोन्नति तथा संघोन्नति मे सहायक हो और वही कार्य करने को कहता है, जिससे संघ मे विच्छेद न हो, विघटन न हो, वल्कि सघ फले, फूले और जिनशासन का जयजयकार हो। मगर ऐसी आज्ञा देने पर भी वे कंठी-वद चेले, जो उन्हे अपना सर्वेसर्वा और परमेष्ठी मानते हैं, काम पड़ने पर गुरु जी को ही अंगूठा दिखला देते हे और उनको आज्ञा की अवहेलना करने मे संकोच नही करते। हां, परम्परा से पकड़ी हुई अपनी चीज पर तो उनका मोह है, किन्तु जो सगठन को चीज है, जो समाजोन्नति, सघोन्नति की वात है; जो फलने-फूलने की चीज है, उसपर उनका द्वेषभाव रहता है। वे स्वय ही उलटे रास्ते पर नही चलते, किन्तु सीधे रास्ते पर चलने वालो को भी पथभ्रष्ट करते है और उसके लिए कोई कसर शेप नही रहने देते।

ज्ञानी पुरुपो का सीधा और साफ मार्ग है। वे कहते है—जो पथभ्रष्ट हैं; शिष्य या श्रावक होने का दावा करता है, किन्तु गुरु की आज्ञा नही मानता है, वह ढोंगी है। उसे गुरु के प्रति अगर सच्ची श्रद्धा है तो वह उनके आदेश को किसी भी स्थिति में टाल

नही सकता । गुरु कहे कि तुम्हे भूखे-प्यासे यही खडा रहना पड़ेगा, तो उसे भी वह स्वीकार करने मे कटिबद्ध रहता है ।

आपको मालूम होना चाहिए कि सेना के प्रत्येक सैनिक को अपने सेनापति की आज्ञा का पालन करना अनिवार्य होता है—कम्पलसरी है । कोई सैनिक कदाचित् आज्ञोल्लघन करता है तो उसे तत्काल गोली मार दी जाती है ।

अरे ससार के लोगो ! जब एक मामूली सेनापति की—कामी और भोगी व्यक्ति की—आज्ञा का पालन करना पड़ता है और भूख-प्यास की स्थिति मे भी उसकी आज्ञा पर कूच करना पडता है, और तनिक भी हिचकिचाहट नही करनी पडती और करने पर जान से हाथ धोने पड़ते है, तो फिर जो हमारे देवाधिदेव है, तीर्थंकर भगवान् है, आचार्य या गुरु के रूप मे हमारे सेनापति है, उनकी आज्ञा का उल्लघन करने वाले की क्या दुर्दशा हो सकती है ? सज्जनो ! भव-भव मे उन्हे राहत नही मिल सकती । उन्हे न जाने कितनी वार जन्म-मरण की वेदनाएं भुगतनी पड़ेगी ।

आज्ञा का पालन वही कर सकता है जो भद्रहृदय, सरल परिणामी, नम्र, जन्म-मरण के दु खो से घबराया हुआ और अभिमान से रहित होता है, जो अपने को छोटा मानता है और गुरु को वड़ा मानता है, वह अन्तरतर से गुरु की आज्ञा का पालन कर सकता है । इसके विपरीत, जो 'अह' के शिखर पर आरूढ़ है और अपने को गुरु से भी वडा मानता है, ऐसा अभिमानी, दुराग्रही और दुर्मार्गी कदापि आज्ञा का पालन नही कर सकता ।

मुझे एक भाई ने एक भाई के विचार सुनाये । वह भाई कहता है—'मै और को तो क्या वन्दन करू, मैने अपने पूज्य महाराज को

भी एक महीने तक वन्दन नही किया।' वाह रे भाई ! धन्य है तुझे और तेरे सुनहरे विचारो को। तू यहा तक कहने का दुस्साहस कर सकता है। सज्जनो ! वे आचार्य कोई भी क्यो न हो, चाहे वे आत्माराम जी हो या गणेशीलाल जी हो, हमारे लिए सभी पूज्य है, जो आचार्य की गादी पर आ चुके है, उन्हे 'नमो आयरियाण' है, श्रद्धापूर्वक नमस्कार है।

जो अहंभावी है, घमण्डी है, वह वदन करने मे भी सकोच करता है। हा, छद्मस्थ होने के नाते आचार्य से भी भूल हो सकती है। ऐसा कोई छद्मस्थ नही जिससे कभी न कभी भूल न हो। ऐसी स्थिति मे श्रावक का कर्त्तव्य है कि वह विनम्र भाव से आचार्य से निवेदन करे कि—गुरुदेव ! आप हमारे गुरुदेव है। साधु की प्रवृत्ति ऐसी होनी चाहिए। आप उचित समझे तो ऐसी प्रवृत्ति करे।' इस प्रकार निवेदन करना सच्चे श्रावक के लिए उचित है और यही उसका कर्त्तव्य भी है। किन्तु इस प्रकार का निवेदन करने के बदले अगर उन्हे वन्दना करना ही छोड दिया जाता है, तो इससे तो यही प्रकट होता है कि उन पूज्य जी ने कोई बडे दोष का सेवन किया है, जो महाव्रतो का विघातक हो सकता है। ऐसा न हो तो वे अवन्दनीय कैसे हो गये ? किन्तु यह सब अहभाव का खेल है। एक ओर गुरु को गुरु मानना और दूसरी ओर खुल्लमखुल्ला उनका अनादर करना, यह श्रावक को शोभा नही देता।

यह बडो की इज्जत करना नही कहलाता। यह तो उनका अपमान है। मगर मनुष्य जब अभिमान मे ग्रस्त हो जाता है तो उसे बोलने का भी भान नही रहता। किन्तु जो अपने को ही पूज्य मानकर बैठा है, उसका क्या किया जाये।

तो ज्ञानी पुरुष कहते है कि जिसमे चार दोष होते है, वह आज्ञा का पालन नही कर सकता। उसे आज्ञारुचि सम्यक्त्व की प्राप्ति भी नही हो सकती, फिर भले ही वह अपने आपको कुछ भी क्यो न मान बैठा हो ! अपने मुह मिया मिट्ठू कोई भी बन सकता है। सभी बहिने अपने को पद्मिनी कह सकती है, मगर पद्मिनी पद्मिनी ही रहती है और शखिनी शखिनी हो रहती है।

सज्जनो ! जिसमे राग की अधिकता होती है, वह अपनी पकड़ी बात को नही छोडता। एक चटोरा दिल्ली के गुलाब-जामुन खाने गया। लौटा तो किसी ने पूछा—भाई, कहा गये थे ? वह उत्तर देता है—दिल्ली गया था।

प्रश्न–किसलिए गये थे ?

उत्तर–गुलाब-जामुन खाने के लिए।

प्रश्न–कैसे थे ?

उत्तर–यार, तारीफ तो बहुत सुनी थी, पर उनका स्वाद तो लीद जैसा था। उससे तो हमारे यही के अच्छे थे।

प्रश्न–तो फिर तुमने खाये क्यो ?

उत्तर—भाई हिन्दुस्तान की राजधानी दिल्ली के गुलाब-जामुन थे, इससे खाये।

भला यह भी कोई बुद्धिमत्ता है ! देहली की लीद भी खाई जाये और अपने नगर के देशी खांड के, शुद्ध घी और शुद्ध मावे के गुलाब-जामुन भी छोड दिये जाये ! यह हठाग्रह नही तो क्या है ? मगर नही, यह नही खाने है, क्योकि यह ब्यावर मे बने है। अरे भाग्यहीन ! तुझे दिल्ली, ब्यावर या जोधपुर से क्या प्रयोजन है ? तुझे तो वस्तु की उत्तमता-अनुत्तमता का विचार

करना चाहिए। मगर दिल्ली के गुलाब-जामुन से तुझे इतना मोह है कि उसके वशीभूत होकर तू लीद खाना भी मंजूर करता है! मगर ब्यावर के शुद्ध गुलाब-जामुन नही खा सकता। अरे मूर्ख! अच्छी चीज कही की भी हो, वह ग्रहण करने योग्य है और जहा की चीज खराब हो, सडी-गली हो, चाहे वह ब्यावर की हो अथवा दिल्ली की हो या घर की ही क्यो न हो, उसे त्याग देना चाहिए। मगर राग-द्वेष का नशा भी अद्‌भुत होता है। वह ऐसे ही विचार-विवेकहीन कृत्य करवाता है। जो उत्तम वस्तु की दूकान पर ही नहीं जाता। मोल-तोल नही करता और उत्तम चीज की तरफ नही झाकता है, मगर सड़ी-गली चीजे खाता फिरता है, उससे बढ़ कर मूर्ख और कौन होगा?

साधु अमुक मकान में पैर रख दे, फिर भले ही वह निर्दोष ही क्यो न हों, तो हम उनके दर्शन नही करेंगे, वहां हम पैर नही रक्खेंगे। साधु उस मकान से बाहर आ जाये तो उनकी चरणरज मस्तक पर चढ़ा लेंगे; और मोहनलाल जी या प्रेमचंद जी महाराज अमुक मकान से बाहर निकलें तो 'वन्दामि' और अमुक मकान में ठहर जाये तो 'निन्दामि' हो जाये! यह राग-द्वेष की कितनी बड़ी मात्रा है! अरे भलेमानुस! जब महाराज उस मकान के अन्दर थे तो क्या दूसरे थे और बाहर पैर धरते ही दूसरे हो गये? अरे, महाराज तो वही के वही है, चाहे कही भी रहे। मिश्री सभी जगह मीठी है और सखिया सभी जगह कड़वो है! मगर तेरी यह मनोवृत्ति बच्चो की सी है। विवेकशून्य है। यह राग-द्वेष की उत्कटता को सूचित करती है और उससे तेरो आत्मा का पतन होगा।

एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाने के कारण गुरु तेरे लिए वन्दनीय नही रहते; क्योकि तू समझता है कि गुरु भी तेरी तरह जेलखाने मे वंद हो जाये। ऐसा हो जाये तो तेरी खुशी का पार न रहे, क्योकि कैदी कैदियों की सख्या वढ़ने से प्रसन्न होता है। किन्तु भाई, ऐसी भावना मत करो। भावना करना ही है तो ऐसी करो कि सव के हृदय में सद्भावना उत्पन्न हो, कोई भूल या अपराध न करे और सव सज्जन वन कर कारागार से मुक्त हो। मगर यह द्वेषवृत्ति ऐसा नही चाहने देती। पडोसिन चाहती है, जैसी मेरी चूड़िया फूटी, वैसी सव की फूट जायें। सव मेरी जैसी हो जाये !

सज्जनो ! मै तुम्हारी नब्ज वरावर देखता जा रहा हू। ज़हर कोई भी खाये, उसे मरना या कष्ट भोगना ही पड़ता है और जो अमृत-पान करेगा वह जियेगा, पावेगा सुख। यह तो सामान्य वात है। स्मरण रखिए, आपके यहा इस प्रकार की जो प्रवृत्तिया चल रही है, वे समाज और संघ के लिए घातक है और साथ ही आपके सम्यक्त्व के लिए घातक है। उनसे लाभ किसी को नही है।

हां, तो पूर्वोक्त राग-द्वेष आदि चार चीज़ें सम्यक्त्व मे वाधक है। ये चारो सम्यक्त्व की प्राप्ति के मार्ग मे विपम चट्टान की तरह खडी हुई है। राग, द्वेप, मोह और अज्ञान—ये चारों पहरेदार है और आती हुई लक्ष्मी को डडे मार-मार कर वाहर निकाल देने को तैयार है। तव समकित रूपी लक्ष्मी आवे तो कैसे आवे ?

यह चार दोप जिसमे विद्यमान है, वह आज्ञा का पालन नही कर सकता। चाहे वह चेला हो, या चेली, वेटा हो या वेटी अथवा प्रजा हो, किन्तु यदि वह अनुशासनहीन है तो उसका भला नही हो

सकता। जिस समाज, सघ या राष्ट्र मे अनुशासन नही है, आज्ञा का पालन नही है वह फल-फूल नही सकता। वही समाज, सघ और राष्ट्र फले-फूलेगा और विकसित होगा, जो आज्ञा-पालन करना जानता होगा।

जिसके राग, द्वेष, मोह और अज्ञान उपशान्त होंगे, पतले पड़ गये होंगे और शनैः शनैः कम होते जायेंगे, उन्हे कही अन्यत्र भागने की आवश्यकता नही है। जैसे-जैसे विकार क्षीण होते जायेंगे, समकित सन्निकट होती जायेगी। वह कहेगी—मैं तुम्हे छोड़ना नही चाहती और वह वरवस गले मे माला पहनायेगी। मगर जिसके सामने आती है और वह दूर-दूर भागता है तो उस भाग्यहीन को वह कैसे प्राप्त होगी ?

तो जिसके राग-द्वेष पतले पड़ गये है और मोह तथा अज्ञान की तीव्रता कम हो गई है, समझिये कि उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति होगी। जिसका भीतर से ज्वर निकल गया है, पित्त शान्त हो गया है, उसे भोजन को रुचि स्वत. उत्पन्न हो जाती है, किन्तु जब तक वात, पित्त, कफ और ज्वर का जोर रहता है, तब तक भोजन की अभिरुचि नही होती। जिसका ज्वर कम हो जायेगा, वह तो स्वय ही भोजन की माग करेगा वल्कि ताले के अन्दर कोई खाद्य वस्तु हो तो ताला तोड़कर भी खा लेगा क्योकि उसकी भूख की रुचि जाग्रत हो चुकी है और शरीर भोजन की माग कर रहा है।

सज्जनो ! इसी प्रकार ज्यो-ज्यो ये चारो दोष कम होते जायेगे त्यो-त्यों आत्मा को सम्यक्त्व की भूख लगती जायेगी और उस समय वह चाहेगा कि समकित मिले, गुरु की वाणी सुनने को मिले, जिन वाणी की अच्छी-अच्छी आज्ञाए मिले, जिससे वह उन आज्ञाओ

को पाल कर आत्मा का कल्याण कर सके। इन दोषो के उपशांत होने पर आज्ञा मानने मे आनन्द आने लगता है और बार-बार यही जिज्ञासा रहती है कि मै प्रभु की आज्ञा को समझू और उसका पालन करू, मुझसे कोई आज्ञा भग न हो पावे ! इसके विपरीत, जिसमे यह चारों दोष प्रबल रूप मे विद्यमान रहते है, वह आज्ञा देने पर कहता है—गुरुजी मुझे ही मुझे आज्ञा देते है ! क्या और सब मर गये ? उसे आज्ञापालन में बडा कष्ट होता है। परन्तु समझना चाहिए कि यह दुर्भावना उसके अमगल की जनक है। दुर्भाग्य का चिह्न है।

आज समाज, जाति या सघ मे जो नारकीय वातावरण दृष्टिगोचर हो रहा है, उसका मुख्य कारण उपर्युक्त दोप ही है। अहकार की विशेष मात्रा भी इन्ही दोपो से उत्पन्न होती है, अहकार के वशीभूत हुए लोग आज्ञा देना तो पसन्द करते है, मगर आज्ञा पालना नही चाहते। किन्तु सभी आज्ञा देने वाले ही हो जायेंगे तो पालन करनेवाला कौन रहेगा ? ऐसी स्थिति मे वह व्यक्ति, समाज, सघ या राष्ट्र रसातल की ओर ही प्रस्थान कर सकता है। आज प्रत्यक्ष देख रहे है कि पिता की आज्ञा पुत्र, गुरु की आज्ञा शिष्य और राजा की आज्ञा प्रजा मानने को तैयार नही है। हा, अपवाद रूप कुछ ऐसे भद्र जीव भी है जो अपने मा-बाप की आज्ञा मानते है, अपने अफसर की आज्ञा मानते है और गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य करते है। जो व्यक्ति घर मे माता-पिता की आज्ञा का पालन करेगा वह धर्म के क्षेत्र मे, सामाजिक क्षेत्र मे या राजनीतिक क्षेत्र मे भी आज्ञा-पालन करने से नही हिचकेगा और आज्ञा पालन मे अपना अपमान नही समझेगा। क्योकि विनय की नीव घर पर भरी जा चुकी है, अतएव इमारत तैयार होने मे देरी नही लगेगी। और जो

पुत्र घर मामलो मे अपने मा-बाप का न रहा, वह हमारा भी क्या बन सकता है ? मगर सचाई यह कि जो आनन्द आज्ञापालन में है, वह आज्ञा देने मे नही है, बशर्ते कि अन्त.करण में निरभिमान वृत्ति विद्यमान हो। आज तो विषमता और उच्छृंखलता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है, उसका मुख्य कारण यही है कि लोग अपने बड़ों-बूढो की, गुरुजनो की आज्ञा पालन करने के महत्त्व को नही समझते। परन्तु जीवन के सर्वतोमुखी विकास के लिए आज्ञापालन का भाव अत्यावश्यक है।

सज्जनो ! राग, द्वेष, मोह और अज्ञान समकित मे बाधक है। इनमे भी राग और द्वेष की परम्परा बड़ी जबर्दस्त है। शास्त्र मे बतलाया है कि किस प्रकार राग और द्वेष जीव के बड़े से बड़े शत्रु बनकर उसे अधोगति मे ले जाते है। वस्तुत. समस्त दुखो के मूल यह राग-द्वेष ही है।

रागद्वेषवशीभूतो, जीवोऽनर्थपरम्पराम् ।
कृत्वा निरर्थक जन्म, गमयति यथा तथा ।।

राग और द्वेष के चगुल में पडा जीव अनर्थो की परम्परा को प्राप्त करता है। उसके लिए अनर्थों का ताँता लग जाता है। एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा,यो आगे से आगे अनर्थ उत्पन्न होते ही रहते है। ऐसी स्थिति मे वह जैसे-तैसे अपना जन्म निरर्थक व्यतीत करता है। उसे मानव-जीवन पाने का कुछ भी फल नही मिलता।

शास्त्र में बतलाया है कि किस प्रकार राग-द्वेष का क्रम से विकास या ह्रास होता है ? कौन किसका जन्मदाता है ? कौन

किसे आगे से आगे प्रेरणा देता है ? कौन किसके आश्रित है ? शास्त्र मे कोई बात अछूती नही छोडी गई है ।

जैसे, दुश्मन को जीतने के लिए पहले सैनिक को ट्रेनिंग लेनी पडती है और तब आसानी से दुश्मन पर विजय प्राप्त की जा सकती है, इसी प्रकार राग-द्वेप रूपी शत्रुओ पर विजय प्राप्त करने के लिए भी अनुभवी गुरु रूपी सेनापति के अधीन रह कर ट्रेनिग लेने की आवश्यकता है ।

सज्जनो ! सासारिक बाह्य शत्रु तो थोडे ही दिनो के होते है, मगर उन्हे जीतने के लिए भी ट्रेनिग लेनी पड़ती है । तो जो शत्रु अनादि काल से भीतर घुसे है और जिन्होने पूर्णरूपेण आत्मा पर अधिकार कर रक्खा है, जो अतीव प्रबल है, उन्हे जीतने के लिए कितनी भारी ट्रेनिंग की आवश्यकता होनी चाहिए, यह सहज ही समझा जा सकता है ।

जो होशियार होकर शत्रु के सामने जाता है, वह जल्दी ही शानदार विजय प्राप्त करके लौटता है और जो अनाडी की भाँति शत्रु का सामना करता है, उसे मुह की खानी पडती है ।

शास्त्रकार बतलाते है कि राग-द्वेष और मोह की उत्पत्ति और विनाश किस प्रकार हो सकता है ? अडे से बच्चा और बच्चे से अडा उत्पन्न होता है । अडा नही तो बच्चा भी नही और बच्चा नही तो अडा भी नही है । दोनो परस्पर एक-दूसरे के जन्मदाता है । इसी प्रकार तृष्णा भी मोह को जन्म देने वाली है । जिसके चित्त मे तृष्णा होती है, उसका मोह बढता ही जाता है । जैसे आग को प्रचण्ड रूप देने वाला, आग की ज्वालाओ की वृद्धि करने वाला ईंधन है, ईंधन के बिना अग्नि न कायम रह सकती है और

न प्रचण्ड रूप ही धारण कर सकती है, उसी प्रकार तृष्णा मोह की अभिवृद्धि करती है। जहा तृष्णा नही वहां मोह का क्या काम है ! मोह तृष्णा का जनक है।

राग और द्वेष कर्मो के मूल बीज है। वस्तुत मोह ही कर्मों का जनक है। इस प्रकार विचार करने से प्रतीत होता है कि मोह ही समस्त विकारों मे प्रधान है।

राग और द्वेष क्या है ? राग द्विमुखी है अर्थात् उसके दो रूप हैं--माया और लोभ। कपट और लोभ के रग से राग का चित्र बनता है। किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए लोभ होता है, क्योकि रागभाव की विद्यमानता है। जहा राग नही वहा लोभ नही और जहां लोभ नही वहां राग नही। साथ ही जहा राग है, वहा कपटाचार भी होता है। जब सीधी तरह कोई अभीष्ट वस्तु प्राप्त नही होती तो उसके लिए कई षड्यन्त्र और नाना प्रकार के छलछिद्र करने पडते हैं।

द्वेष भी द्विमुख है। क्रोध और मान उसके दो रूप है। राग और द्वेष दोनो मुकाबिले के हैं, दोनो की शक्ति प्रबल है। राग के हिमायती लोभ और कपट है तो द्वेष के साथी क्रोध और मान है। लोभ और कपट अपना अभिमत—वोट राग को देते है और क्रोध तथा मान अपना अमूल्य वोट द्वेष को देते है। जब क्रोध आता है तो द्वेष उत्पन्न हो जाता है और द्वेष होता है तो मान भी आ जाता है। मान के मद मे भर कर मनुष्य कहता है—जा-जा, तेरे जैसे ३६० मेरी पाकेट मे पडे रहते है। इस प्रकार द्वेष होने पर क्रोध और मान दोनो आ जाते है, क्योकि वे दोनो द्वेष के दोस्त है। तो दोनो मुकाबिले के है। कहा है—

दुनिया में दो दीन हैं,
लग रही दोनो की बाजी,
इधर पण्डित उधर काजी।

हिन्दुओ और मुसलमानो मे स्पिरिट (जोश) भरने वाले अगर है तो एक तरफ काजी-मुल्ला और दूसरी तरफ पडित है। काजी चिल्ला उठे कुरान की रूह से कि—इस्लाम खतरे मे है। हिन्दुओ के साथ नही रहना। मार दो, काट दो इन काफिरो को। हिन्दुओ को मार दोगे तुम्हे सीधी जन्नत मिलेगी!

सज्जनो! इन काजियो की ही कृपा से देश के हिन्दुस्तान और पाकिस्तान नाम से दो टुकडे हुए, जब कि शताब्दियो से दोनों भाई-भाई की भॉति रहते आ रहे थे। एक आख दुखती थी तो दूसरी में भी लाली आ जाती थी। हिन्दू दुखी होता तो मुसलमान भी दुख मनाता था और मुसलमान दुखी होता तो हिन्दू भी दु'ख का अनुभव करता था। मगर मजहब के मतवालो ने और स्वार्थ-परायण राजनीतिज्ञों ने दिलो मे ऐसा द्वेप-दावानल सुलगा दिया कि एक-दूसरे को दुश्मन के रूप मे देखने लगे। एक दूसरे का रक्षक होने के वदले भक्षक बन गया।

भद्र पुरुषो! दोनों आखो का सबंध कहा है? दोनो का सबध मस्तिष्क से है। अगर मस्तिष्क मे विकृति आ गई है तो आँखो पर भी उसका प्रभाव पडे विना नही रहेगा। सज्जनो! जब द्वेपवुद्धि आ जाती है तो समझ लेना चाहिए कि मस्तिष्क मे खरावी आ गई है और जब मस्तिष्क मे खरावी आती है तो आखो पर उसका प्रभाव पडे विना नही रहता। एक आंख दुखती है तो दूसरी मे भी दवाई लगा ली जाती है, क्योंकि दोनो का सबध है।

इसी प्रकार जब एक घर मे या परिवार मे खराबी आ जाती है तो जाति मे भी खराबी आ जाती है जाति मे आने के बाद समाज मे आ जाती है और समाज मे खराबी आ जाती है, तो राष्ट्र मे भी खराबी आये बिना नही रहती। एक का दूसरे पर असर पड़े बिना नही रहता।

तो उधर मौलवियों ने लड़ाया और इधर पंडितो ने लडाया और पाठ पढाया कि शूद्र का पानी न पीना, अन्यथा धर्म भ्रष्ट हो जायेगा। अमुक जाति वालो का स्पर्श न करना, इससे नरक में चले जाओगे। इस प्रकार दोनो तरफ से जहर डाला गया। परिणाम यह हुआ कि अखड भारत खडित हो गया—छिन्न-भिन्न हो गया।

इसी प्रकार राग और द्वेष भी मैदान मे खडे है। जब कोई अगुआ बन जाता है तो उसकी पीठ ठोकने वाले और पक्ष करने वाले भी मिल ही जाते है। किन्तु उन भोदुओ को यह पता नहीं कि यह व्यक्ति हमको डुबाने वाला है अथवा तारने वाला! वे तो उसके पीछे हो ही जाते है।

तो क्रोध और मान के बल पर ही द्वेष गूज रहा है। अगर यह दोनो उसका साथ छोड दे तो क्षण भर भी द्वेष खडा नही रह सकता।

और कर्मो को जन्म देने वाला मोह है, अर्थात् कर्मोपार्जन मे विशेष रूप से मोह का हाथ है। मोह ने कर्मो को जन्म दे दिया और वे फल-फूल कर बडे हो गये! फिर वही कर्म आगे चल कर जीव को जन्म-जरा-मरण आदि की विषम और विविध वेदनाए देते है। वही ससार-परिभ्रमण के कारण बनते है। जहा कर्म

नही है, वहां जन्म-मरण नही है। जिसने कर्मों का नाश कर दिया, उसने जन्म-मरण मिटा दिया ; क्योंकि कारण होने पर ही कार्य होता है और जहां कारण नहीं वहा कार्य भी नही होता। कर्म जन्म-मरण का कारण है और जन्म-मरण दु.खो का कारण है। यह कार्य-कारण की परम्परा यो ही चलती रहती है।

जिसकी आत्मा मे कर्मो को उत्पन्न करने वाला मोह शेष नही रहा है, समझ लीजिये उसके सभी दु ख निश्शेप हो चुके है। मगर प्रश्न यह है कि मोह का नाश कैसे होता है और कौन करता है ? जिसने तृष्णा का नाश कर दिया है, उसने मोह का भी नाश कर दिया है। जिसके अन्त करण म तृष्णा की ज्वालाए भभक रही है, उसका मोह नष्ट नहीं हो सकता।

तो जिसमे तृष्णा नही, उसमे लोभ भी नही है। पदार्थो को देख कर आकर्षित हो जाना, प्राप्त पदार्थो के सरक्षण की लोलुपता होना लोभ कहलाता है। जिसमे लोभ की वृत्ति नही है, उसके सामने कोई भी पदार्थ पड़ा रहे, वह उसमे आसक्त नही होगा। अप्राप्त पदार्थो की इच्छा या हवस को तृष्णा कहते है। जब लोभ नही रहता, अर्थात् प्राप्त पदार्थो मे आसक्ति नही रहती तो तृष्णा अर्थात् अप्राप्त पदार्थो की कामना भी विलीन हो जाती ह। आज आप बाजार मे जाते है तो फल, नमकीन, मिठाई या पहनने-ओढने की अनेक अनावश्यक वस्तुए देखकर मन ललचाने लगता है और उन्हे प्राप्त करने के लिए तृष्णा आगे बढती है। किन्तु जो अकिंचनवृत्ति अगीकार कर चुका है, जिसने प्राप्त पदार्थो को भी त्याग दिया है, वह किसी भी लुभावने पदार्थ को भी देखकर उसकी इच्छा नही करेगा।

तो यह क्रम है इन शत्रुओं को नष्ट करने का। अलबत्ता इन विकारों की वृद्धि के लिए कुछ भी प्रयत्न नहीं करना पड़ता, मगर उनको समूल नष्ट करने के लिए भारी परिश्रम की अपेक्षा होती है। इसका कारण यही है कि हमारी आत्मा में वे गहरी जड़ जमा कर घुसे हुए हैं और उन्हें निरन्तर सिंचन मिलता रहता है। ज्यों-ज्यों इन विकारों का विकास होता है, त्यों-त्यों आत्मा का ह्रास होता है और जैसे-जैसे इनका ह्रास होता है, वैसे ही वैसे आत्मिक गुणों का विकास होता है। आरोग्यता का विकास रोग का ह्रास है और ज्यों-ज्यों रोग कम होता जाता है, त्यों-त्यों शक्ति बढ़ती जाती है।

भद्र पुरुषो ! इसी प्रकार राग, द्वेष, मोह और तृष्णा रूप आत्मगत रोग बढ़ते जाते हैं तो उन ज्ञान, दर्शन, चारित्र और समकित रूप आत्मीय गुणों की शक्ति का ह्रास होता जाता है और ज्यों-ज्यों नीरागता, सत्यप्रेम, निर्लोभता और अतृष्णा के भाव बढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों समकित आदि आत्मिक गुण का विकास होता जाता है।

सज्जनो ! दुश्मनों को बुलाने के लिए आमंत्रण पत्रिका भेजने की आवश्यकता नहीं होती, चिट्ठी-पत्री नहीं लिखनी पड़ती। वे बिना बुलाये ही आ धमकते हैं। परन्तु उन्हें निकाल बाहर करने के लिए अवश्यमेव प्रयत्न करना पड़ता है। ये लुटेरे बड़े दाव-पेच से लटते हैं। कोई दानी दान दे रहा है तो उसे दान से विरत करने के लिए भी दुर्गुणी अनेक षड्यन्त्र करता है और चाहता है कि यह दानी दान न देने पावे।

दक्षिण महाराष्ट्र में सन्त तुकाराम हो गुजरे हैं। कहते हैं, वे बड़े महात्मा थे ; बड़े दानी भी थे। पर उनकी पत्नी न जाने

किस भुक्खेड के घर जन्मी थी या सवत् ५६ के दुर्भिक्ष के साल मे पैदा हुई थी ! उसे अपने पति की यह प्रवृत्ति बिल्कुल भी अच्छी नही लगती थी ।

आप जानते है कि गृहस्थी रूपी गाडी के स्त्री-पुरुष दो पहिये सम होते है तो जीवन-गाडी ठीक-ठीक चलती है । अगर दोनो पहिये विषम होते है तो गाडी के टूट जाने का खतरा रहता है और सवारियो के प्राण भी सकट मे रहते है । तो तुकाराम जी की स्त्री की प्रवृत्ति विषम थी और वह उनके दान-धर्म मे हस्तक्षेप करती रहती थी । सत तुकाराम के पास कोई भी याचक आता, वह खाली हाथ नही लौटता था । मगर देखा जाता है कि देने वाला देता है और खजाची का पेट दुखता है ।

एक समय की बात है । उनकी दानशीलता की महिमा सुन कर हरिद्वार से दो महात्मा सहायता पाने के प्रयोजन से उनके गाँव मे पहुचे । दोनो उनके मकान की तलाश मे एक गली मे होकर जा रहे थे कि अकस्मात् उधर से ही सन्त तुकाराम का भी स्नान-शौच के लिए निकलना हो गया । रास्ते मे दोनो महात्माओ ने उनसे पूछा—भाई, सन्त तुकाराम का घर जानते हो ?

तुकाराम ने उत्तर दिया—हा, जानता हू और फिर एक मकान की ओर सकेत करके उनसे कहा—उस मकान मे चले जाओ । वही उनका मकान है ।

दोनो महात्मा उसी घर मे पहुच गये । उनकी पत्नी ने महात्माओ को देखा तो सोचा—जमदूत आ गये ! मेरे पति को मेरी और मेरे बच्चो की परवाह नही , किसी की परवाह है तो उन बाबा-जोगियो की है ! खैर उसने दोनो महात्माओ को एक खाट पर बिठला दिया और पूछा—आप कहा से आये हो ?

महात्मा—हम लोग सन्त तुकाराम की तारीफ सुन कर हरिद्वार से आ रहे है।

स्त्री सोचने लगी—तव तो यह वड़ी रकम के उम्मीदवार दिखाई देते है। यह रोटी के लिए नही आये है। अगर मेरे पति का यही रवैया रहा तो घर वरवाद हो जायेगा और मै दाने-दाने के लिए मुहताज हो जाऊगी। स्त्री वडी चालाक थी। उसने यह भी सोचा—सन्तजी आ गये तो इन्हे दिये विना रवाना नही करेंगे। अतएव उनके आने से पहले ही इन्हे रवाना कर देना चाहिए। वह एक रस्सा और मूसल लाई। उन्हे एक ओर रख कर इधर-उधर फिरने लगी। महात्माओ ने पूछा—वहिनजी, यह क्या कर रही है आप ? रस्सा और मूसल किस लिए लाई है ? तव उसने कहा—क्या कहू महाराज ! कहने जैसी वात भी तो नही है। मेरे पति ने वावा-जोगी लोगो को दान दे-दे कर सारा घर लुटा दिया है। अव घर में कुछ रहा नही तो उनका दिमाग खराव हो गया है। वे पागल की तरह इधर-उधर फिरते रहते है। महात्माओ के प्रति उन्हे ऐसी घृणा को हो गई है कि न पूछिए वात ! जहा कही किसी महात्मा को देखते है तो वुला लाते है और इस रस्से से वाध कर मूसल से ऐसी मार मारते है कि वेचारे की हड्डी-पसली चूर-चूर हो जाती है। मैने इसीलिए इन्हे छिपा कर रख दिया है कि उनकी दृष्टि इन पर न पड़ जाय। कही ऐसा न हो कि आप परदेशी महात्माओ की भी वही दुर्दशा कर दे। मै इधर-उधर फिर कर देख रही हू कि वे कही आ तो नही रहे है। पहले उनकी महात्माओ पर अटूट श्रद्धा थी, मगर पैसा खूटते ही ऐसा परिवर्तन हो गया है कि प्रत्येक महात्मा उन्हे दुश्मन-सा दिखाई देता है। मै जल्दी रसोई वना कर आपको

जिमा देती हू ताकि वे आपके साथ को कोई अनुचित व्यवहार न करे।

यह सब सुनकर दोनो महात्मा घबराये और कहने लगे—ऐसा है तो भोजन भी रहने दो बहिनजी, हम चले जाते है।

तब बहिनजी ने कहा—नही, उनके आने से पहले ही मै आपको जिमा दूंगी। मेरी कुटिया पर आये अतिथि भूखे ही चले जाये, यह मुझे सहन नही होगा।

मगर दोनो महात्माओ के दिलो मे दहशत का भूत सवार हो-चुका था। वे अब कहां ठहरने वाले थे? भूखे ही घर से रवाना हो गये और कहने लगे—जान बची और लाखो पाये! जल्दी भागो, कही तुकाराम जी न आ जायें!

तुकारामजी अपनी पत्नी की प्रकृति से भली-भाति परिचित थे। उन्हे आशंका हुई—मेरी गृहिणी कही महात्माओं को भूखा प्यासा ही रवाना न कर दे! इस आशंका के कारण वे जल्दी ही नित्यकर्म से निवृत्त होकर घर की ओर चल पडे। घर आकर पूछा—दो महात्मा आये थे, वे कहा चले गये?

स्त्री ने चतुराई से उत्तर दिया—वे तो रस्सी और मूसल मांगते थे।

तुकारामजी—किस प्रयोजन से?

स्त्री—कहते थे—हम भग घोटेगे और रस्सी से पानी खीचेंगे। मैंने उनसे कहा—यह पुराने है। आपके लिए नये मंगवा देंगे। मगर वे नही माने। कहने लगे—देने है तो दे दो और नही तो हम जाते है। यह कह कर वे अभी-अभी चल दिये है।

सज्जनो ? नीतिकारो ने स्त्री-स्वभाव के विषय में कहा है—

स्त्रियश्चरित्र पुरुषस्य भाग्य
देवो न जानाति कुतो मनुष्यः ?

इन भद्राओं की तो माया ही निराली है ! इनके चरित्र को मनुष्य बेचारा तो क्या 'देवता' भी नही समझ सकता। मगर सब एक-सी नही होती। कई देवियां तो ऐसी भी होती है जिनके दर्शन से पाप दूर हो जाते है।

हां, तो सन्त तुकाराम ने अपनी पत्नी की बात सुनकर कहा —भगवती ! यही क्यो न दे दिये। तूने उन्हे खाली हाथ क्यो भेज दिया ?

यह कह कर वे हाथ मे मूसल और कधे पर रस्सा लेकर उन महात्माओ की तलाश मे निकले। कुछ ही दूर गये थे कि महात्मा उन्हे दिखाई दिये। तुकारामजी ने आवाज देकर कहा—महात्माओ ! ठहरो, ठहरो, मै आ रहा हू।

महात्माओ ने मुड कर देखा तो समझ लिया कि मूसल-रस्सा धारी सन्त तुकाराम हमारे पीछे आ रहे ह। अब खैर नही है। वह अवश्य ही रस्से से बाध कर मूसल से हड्डी-पसली एक कर देगा ! उस भद्रा ने यथार्थ ही कहा था। बस, उन्होने आव देखा न ताव और सिर पर पैर रख कर भागना शुरू कर दिया। वे बुरी तरह डर गये थे, अतएव पीछे देखते जाते और आगे भागते जाते थे।

सन्त तुकाराम के मन में कुछ नही था। वे तो महात्माओ की सेवा के उद्देश्य से ही गये। जब उन्होने महात्माओ को भागते देखा तो थोड़ी देर तो पीछा किया, मगर फिर निराश

होकर अपने घर लौट आये। घर आकर उन्होने कहा—देवी ! हमारे भाग्य ही फूटे है कि घर आये महात्मा खाली लौट गये। अगर तेरी और मेरी—दोनो की भावना अच्छी होती तो हमे दान का लाभ मिल जाता।

सज्जनो ! जिसने दानान्तराय कर्म बांध रक्खा है, वह स्वय तो दे ही नही सकता, बल्कि दूसरा देता हो तो उसमे भी बाधा पहुचाता है और फिर नये सिरे से अन्तराय कर्म का बध कर लेता है। भोगान्तराय कर्म का उदय होता है तो वस्तु मिल जाने पर भी उसका भोग नही किया जा सकता।

समय समाप्त हो रहा है। आज मैने आज्ञारुचि सम्यक्त्व पर किंचत् प्रकाश डाला है और यह बतलाने का प्रयास किया है कि जिनेश्वरदेव की, आचार्य महाराज की और गुरु की आज्ञा का पालन करने से भी जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है और सम्यक्त्व प्राप्त होने पर बेडा पार हो ही जाता है।

भद्र पुरुषो ! अगर आप संसार के सताप को शमन करना चाहते है, अखण्ड और अक्षय शान्ति प्राप्त करना चाहते है और सब प्रकार के दु खो से मुक्त होना चाहते है तो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का पालन करो। उसमे रुचि धारण करो। कहा है—

रागो द्वेषश्च मोहश्च, यस्याज्ञानं क्षयं गतम् ।
जिनाज्ञायां रुचि कुर्वन्निहाज्ञारुचिरिष्यते ॥

अर्थात्—जिनके राग, द्वेष, मोह और अज्ञान सर्वथा क्षीण हो चुके है, ऐसे जिनेन्द्रदेव की आज्ञा मे रुचि धारण करना आज्ञारुचि है।

इस आज्ञारुचि सम्यक्त्व को जो धारण करता है, वह हर-परलोक के दुखो से रहित होकर परम कल्याण का भागी होता है।

ब्यावर
११-९-५६

: ५ :

सूत्ररुचि

वोरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो वीरं वुधाः संश्रिताः,
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्यं नमः ।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं वीरस्य घोरं तपो,
वीरे श्रीधृतिकीर्तिकान्तिनिचय हे वीर ! भद्रं दिश ॥

× × ×

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराः पूज्या उपाध्यायकाः ।
श्रीसिद्धान्तसुपाठका मुनिवरा रत्नत्रयाराधकाः,
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

उपस्थित महानुभावो !

कल आपके समक्ष आज्ञारुचि सम्यक्त्व के विषय मे प्रवचन किया गया था। वतलाया गया था कि भगवान् जिनेन्द्र की आज्ञा पालन करने की रुचि, अभिलाषा , चाह या इच्छा होना ही आज्ञारुचि सम्यक्त्व है। इस व्याख्या से प्रतीत हो जाता है कि आज्ञा पालन करने की इच्छा या रुचि मे भी ज्ञानियो ने सम्यक्त्व का आभास पाया है । क्योकि आज्ञापालन मे वही रुचिमान् होगा, जिसे भगवान् के वचनो पर श्रद्धा होगी और जो जानेगा कि उनकी आज्ञा का पालन करने से मेरा हित होगा और कल्याण होगा । जव इस प्रकार की भावना अन्तरग मे जागृत होगी, तभी वह आज्ञा का पालन करने मे समर्थ होगा, अन्यथा नही ।

किन्तु सज्जनो ! आज्ञा-पालन करना कोई साधारण बात नही है। आज आज्ञा देने मे तो सभी गौरव का अनुभव करते है, किन्तु कितने लोग मिलेगे जो आज्ञा-पालन मे गौरव का अनुभव करे ? जो स्वय आज्ञा का पालन करता है, वही वास्तव में आज्ञा पलवाने का अधिकारी होता है। जिसने आज्ञा का पालन नही किया और जो कर भी नही रहा है, उसे अधिकार नहीं कि वह दूसरो से अपनी आज्ञा मनवा सके। अतएव आज्ञा का पालन करना निहायत जरूरी है।

भगवान् की, आचार्यों की तथा धर्मगुरुओ की आज्ञा का पालन करके कइयो ने आत्मकल्याण किया, कई कर रहे हैं और भविष्य मे भी करेंगे। कोई मनुष्य यदि और कुछ नहीं जानता तो कम से कम इतना विश्वास तो करे कि भगवान् ने जो कुछ कहा है, वही यथार्थ है, सत्य है और उसमे शका के लिए कोई अवकाश नही है। इस प्रकार के विश्वास से भी मनुष्य का वेडा पार हो जाता है। एक आचार्य कहते है—

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं, हेतुभिर्नैव हन्यते ।
आज्ञासिद्ध नु तद् ग्राह्यं, नान्यथावादिनो जिनाः ॥

जिनेन्द्रदेव द्वारा प्ररूपित सूक्ष्म तत्त्व अगर समझ मे नही आता तो न आवे ; मगर किसी भी हेतु से उसमे वाधा नही आ सकती। अतएव वह तत्त्व वीतराग की आज्ञा से ही सिद्ध है, अतएव माननीय है, श्रद्धा करने योग्य है। सौ बातो की एक बात यह है कि जिन अन्यथावादी नही होते। जिन्होने परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया है और जो समस्त कषायो का विनाश कर चुके है, उनके अन्यथावादी होने का कारण ही शेष नहीं रहता।

इस प्रकार जिन भगवान् की आज्ञा के प्रति आन्तरिक रुचि और श्रद्धा होना ही आज्ञारुचि सम्यक्त्व है।

आज आप के समक्ष सम्यक्त्व-प्राप्ति के दस कारणो मे से चतुर्थ कारण सूत्ररुचि सम्यक्त्व पर कुछ प्रकाश डालना चाहता हूं।

व्याकरण के अनुसार सूत्र शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—सूचयतीति सूत्रम्। अर्थात् जिससे हमे धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, कृत्य-अकृत्य, जीव-अजीव आदि पदार्थो की सूचना मिलती है, वह सूत्र कहलाता है। सूत्र को शास्त्र, ग्रथ या आगम आदि भी कहते है। सूत्र या आगम को पढ़ने की—स्वाध्याय की अभि-रुचि होना भी सम्यक्त्व का कारण है।

सूत्र दो प्रकार के है—अग और अंगवाह्य। आचाराग, सूत्र-कृतांग, स्थानाग आदि वारह अग है और इनके अतिरिक्त आवश्यक छेदसूत्र, मूलसूत्र आदि अगबाह्य है। तीर्थंकर भगवान् अर्थ रूप से वारह अगों के प्रणेता-उपदेशक है। गणधर देवो ने उन्हे शब्द रूप मे निवद्ध किया है। मगर अगो की शोभा तभी होती है, जव उपांग भी हो। जैसे हमारे शरीर मे भुजाएं, पैर, पेट, वक्ष स्थल आदि अग है और हाथो की उगलिया, पैरो की उगलिया, आख, कान नाक, मुख आदि उपग है। यह उपाग न हो तो शरीर ठूठ जैसा दिखलाई देगा। अगो के साथ उपाग होते है, तभी वह शरीर पूर्ण कहलाता है। उपागो के विना अंगो का काम भी नही चल सकता।

इसी प्रकार श्रुत मे पारगत होने के लिए अगो का और उपागो का अध्ययन करना आवश्यक है। ज्यो-ज्यो सूत्रो के पढने की रुचि जागृत होगी और मनुष्य स्वाध्याय करता जायेगा, त्यो-त्यो सूत्रो के ज्ञान की वृद्धि होती जायेगी।

आपको जम्बूद्वीप की सैर करनी है तो जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र का अध्ययन कर लीजिये। आकाश-मडल की सैर करनी है तो सूर्यप्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र पढना होगा। देवलोक और देवविमानो की सैर करने के लिए जीवाभिगम सूत्र पढना आवश्यक है। अगर नारकीय यातनाओ का परिचय प्राप्त करना है तो नारक भाव-दर्शक सूत्रो का स्वाध्याय करो। ज्यो-ज्यो सूत्रो का अध्ययन होगा, त्यो-त्यो विषय की जानकारी होगी और निरन्तर श्रुत के अभ्यास की रुचि भी वढती चली जायेगी।

सूत्रो के पठन-पाठन से आत्म-समाधि मिलती है। पढ़ने वाले को भी और पढाने वाले को भी शान्ति मिलती है। जव दोनों ही श्रुताभ्यास मे व्यस्त एवं लीन हो जाते है तो फिर उन्हे इधर-उधर की गपशप, निन्दा और चुगली आदि करने का अवकाश नही रहता। उस समय दूसरी कोई वात ही नही सूझती। जो निकम्मे रहते हैं, उन्हे इधर-उधर की गपशप सूझती है, निन्दा, चुगली या उखाड-पछाड़ की वाते ध्यान मे आती है। अतएव जहा तक सभव हो, मनुष्य को कभी खाली नही रहना चाहिए। उसे सूत्रो का खूव स्वाध्याय करना चाहिए। ऐसा करने से बुद्धि निर्मल होती है, चित्त एकाग्र होता है और पाप कर्मों से वचाव होता है।

भद्र पुरुषों! यह जीवन अनमोल है। इसे व्यर्थ की वातो मे गवा देना योग्य नही। आध्यात्मिक क्षेत्र मे अग्रसर होने मे इसका उपयोग करना चाहिए। इसी प्रकार इसकी सार्थकता हो सकती है। अतएव ज्ञानी जनो का कथन है कि साधु और श्रावक-दोनो को ही प्रतिदिन नियमित रूप से शास्त्रो का स्वाध्याय करना चाहिए। शास्त्र-स्वाध्याय आत्मा की सर्वोत्तम खुराक है। इससे आत्मा के ज्ञान-गुण की वृद्धि होती है और आत्मा को पोषण

मिलता है। श्रद्धा मे दृढता आती है और सम्यक्त्व की प्राप्ति तथा स्थिरता होती है।

दिल्ली मे मोहनलाल जी नामक एक श्रावक थे, जिनका कुछ ही दिनो पहले देहान्त हुआ है। वे शास्त्रो के ज्ञाता थे, साधु भी उनसे वाचना लेते थे। आखिर जिसके पास कुछ देने को होता है, वही दूसरो को दे सकता है। जो स्वयं ही नगा-भूखा है, वह दूसरो को क्या देगा ?

कई लोग कहते है—'पढे सूत्र तो मरे उसका पुत्र।' इस प्रकार कहना शास्त्र की वड़ी से वडी आसातना है। शास्त्रो का पठन करना क्या इतना पाप का कारण है ? सज्जनो ! शास्त्र पढना तो उत्तम ही है ; फिर भी यह जो कहावत चल पड़ी है' उसका आशय यह लिया जा सकता है कि पहले सूत्रो का ज्ञान विद्वान् और मर्मवेत्ता गुरु से प्राप्त कर लेना चाहिए। अगर विना योग्य गुरु के स्वाध्याय किया जायेगा तो कदाचित् मामला उलटा भी हो सकता है। सूत्र फूलो की माला है, नही तो नाग काला है। अतएव यह आवश्यक है कि पहले अधिकारी गुरु से श्रुत का अभ्यास किया जाये।

शास्त्रो मे वहुत-सी वाते चरितानुवाद की होती है, जो अल्प श्रम से ही समझ में आ सकती है, किन्तु अनेक वाते ऐसी भी है, जो गूढ रहस्य से परिपूर्ण होती है। उन्हे गुरु से समझना ही उचित है।

हा, इसका अर्थ यह नही समझना चाहिए कि श्रावक शास्त्र पढने का अधिकारी ही नही है। उसके लिए कोई मनाही नही है। यदि श्रावक को शास्त्र पढ़ने का अधिकार न होता तो श्रावक-

प्रतिक्रमण में सूत्र-सम्बन्धी चौदह अतिचारों के पाठ की आवश्यकता ही क्या थी ? परन्तु प्रतिक्रमण मे यह पाठ आता है—

'जं वाइद्धं, वच्चामेलियं, हीणक्खरं, अच्चक्खरं' आदि।

यह पाठ श्रावक भी बोलते है और साधु भी। अगर श्रावक शास्त्र नही पढ सकता तो उसको अतिचार भी कैसे लगेगे ? और फिर उनके लिए 'मिच्छामि दुक्कड' की क्या आवश्यकता है ! 'मूलं नास्ति कुतः शाखा !' जब शास्त्र पढना ही नही तो अतिचारो के विशोधन का प्रश्न भी उपस्थित नही होता है।

श्रावक-प्रतिक्रमण में सूत्र से अतिचारो का आना इस बात को सिद्ध करता है कि श्रावको को भी साधु की तरह ही सूत्र पढने का अधिकार है और इसके लिए भगवान् की मनाही नही है।

जो चलेगा उसे थकावट भी आयेगी, जो चढ़ेगा सो ही गिरेगा, और जो व्यापार करेगा उसी को नुकसान होगा। जो व्यापार ही न करेगा उसे नुकसान कहा से होगा ? जो सूत्र ही नही पढ़ेगा उसे उसका अतिचार भी क्यो लगेगा ?

आशय यह है कि सम्यक्त्व की प्राप्ति तो गृहस्थ को भी करनी होती है। अगर गृहस्थ के लिए सूत्र पढना निषिद्ध मान लिया जाये तो फिर सूत्ररुचि सम्यक्त्व से गृहस्थ को क्या लाभ है ?

सूत्रज्ञान से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। जिसे सूत्र का यथार्थ ज्ञान है, उसे सक्यत्व भी प्राप्त है और जिसे सम्यक्त्व प्राप्त है, उसे ज्ञान भी प्राप्त है। अतएव श्रावको को भी सूत्रो का अवश्य अध्ययन करना चाहिए।

हा, यह बात ध्यान मे रखनी होगी कि शास्त्र का स्वाध्याय करते समय ३४ असज्झायो को टालना आवश्यक है। समय पर न

पढ़ा हो और असमय में पढा हो, यह दोष है और सूत्रवाचक को इन दोपो से वचना चाहिए।

शास्त्र मे श्रावक का परिचय देते हुए कहा गया है—

'अभिगमजीवाजीवे, उवलद्धपुण्णपावासवसंवरनिज्जराबंध-मोक्खकुसले।'

आनन्द आदि श्रावक कैसे थे ? उन्होने जीव और अजीव के स्वरूप को भलीभाति जान लिया था। पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, वंध और मोक्ष तत्त्व के भी ज्ञाता थे। वे जीवतत्त्वो के ज्ञाता आकाश से उतर कर तो आये नही थे। सव तत्त्वो का ज्ञान शास्त्रो के स्वाध्याय से ही उन्हे हासिल हुआ था। अगर श्रावको को शास्त्र पटने का अधिकार न होता तो वे तत्त्व के ज्ञाता कैसे वनते ?

स्वाध्याय का अर्थ है अपने आपका अध्ययन करना अर्थात् अपने स्वरूप को पहचानना। जिसने स्वाध्ययन नही किया, वह पराध्ययन भी क्या करेगा ! जो अपने आपको ही नहो पहचानता, वह दूसरो को क्या खाक पहचानेगा ! अर्थात् अन्य पदार्थों को भी कैसे जानेगा ! अतएव स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए। परन्तु आजकल स्वाध्याय की प्रवृत्ति कम हो गई है। आज श्रावक तो स्वाध्याय कम करते ही है, मगर साधु भी पूर्वकाल की तरह स्वाध्याय मे निरत नही रहते। साधु के लिए शास्त्र मे पूरा टाइम-टेविल वना दिया गया है। उसे किस समय क्या कार्य करना चाहिए, यह सव क्रम भगवान् ने निर्दिष्ट कर दिया है।

आज नये-नये नियम वनाये और निकाले जाते है, मगर पुराने नियम क्या सव वेकार हो गये ? जिन्हे पालन करना है उनके लिए

शास्त्रों में सभी नियम विद्यमान है । किन्तु जिन्हे पालन नही करना है, वे अपनी-अपनी सुविधा के लिए, प्रमाद के कारण नवीन-नवीन नियमो का निर्माण कर लेते है और अपनी मनमानी करने पर उतारू हो जाते हैं। वाड़ किसके लिए होती है ? पशुओ के लिए मगर कितने ही वाड़ तोडकर भी खेत खा जाते है । ताले साहूकारो के लिए है, चोरो के लिए नही । चोर तो ताले भी तोड़ डालते है । किन्तु किसी न किसी दिन ताले तोड़ने वाले पकड़े भी जाते है और जव पकड़े जाते है तो अपनी करतूतो का फल भी भोगते हैं ।

आज साधुओ और श्रावको में आपस मे जो झगड़े चलते हैं, उनका एक प्रधान कारण समय का सदुपयोग न करना है । जिस का अनिवार्य अन्य कार्यो से वचा हुआ समस्त समय स्वाध्याय मे व्यतीत होता है, जिसे ज्ञान-ध्यान से फुरसत ही नही मिलती, वह लडाई-झगड़ा कव करने वैठेगा ? इस प्रकार के अनर्थकर विचार ही उसके चित्त मे कैसे उत्पन्न होगे ?

स्मरण रखना चाहिए कि विना सोचे-समझे और गंभीर विचार किये अधिक वोलना भी खतरनाक है। जो अटसंट वोलता है, वह दोप का भागी अवश्य होता है। वोलते समय उसे विचार नही रहता और कभी ऐसे शव्द निकल जाते है जिनसे समाज में क्लेश खड़ा हो जाता है। अतएव उचित यह है कि पहले विचार किया जाये और फिर मुंह से शव्द निकाले जाये । ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि वोलने को मनाही नही है, पर पहले मन मे तोलो और फिर वोलो । वचनगुप्ति कहती है कि वचन को गोप कर रख, मौन रह और जवान पर ताला लगा दे, किन्तु भाषासमिति कहती है कि—मौन भी रखना होगा और जव मौन से काम न चले तो

बोलना भी होगा। मगर किस शर्त पर मौन रहना है ? आस्रव-जनक वाणी बोलने के लिए मुख पर ताला लगाये रखना है और जीवदया तथा धर्मोपदेश के लिए हित, मित, पथ्य वचनो का प्रयोग कर बोलना भी होगा।

यदि भलीभाँति सोच-विचार कर ठीक तरह से वाणी का प्रयोग किया जाये तो फिर अपनी भाषा बदलनी नही पडती। विवेकवान् पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह जो कुछ बोले, समझ कर बोले। अगर ठीक बोले--सत्य का प्रयोग करे तो फिर उसपर डटा रहे और यदि छद्मस्थता के कारण बोलने मे भूल हो गई है तो बिना किसी हिचक के उसे उसी समय स्वीकार कर ले। अपनी भूल स्वीकार करते समय प्रतिष्ठाभग आदि का विचार न करे, क्योकि भूल स्वीकार कर लेने से अन्तत- प्रतिष्ठा की वृद्धि ही होती है। मगर मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य यही है कि वह खूब सोच-समझ कर भाषा का प्रयोग करे। भाषासमिति यही कहती है कि—तुम बोलो शौक से किन्तु अपनी मर्यादा मे रह कर। सीमा से बाहर न जाओ। मर्यादा के अन्तर्गत भाषा सार्थक है, निरर्थक नही। जिस भाषा से अपना अथवा दूसरे का भला होता हो, वही भाषा बोलने का तुम्हे अधिकार है। जिससे स्व-पर की हानि होती हो, ऐसी वाणी बोलने की आवश्यकता नही।

श्रीठाणाग सूत्र मे कहा है—जिस सम्प्रदाय या जिस गच्छ मे स्वाध्याय नही किया जायेगा, शास्त्रवाचन नही होगा, उस सम्प्रदाय, गच्छ या सघ का साहित्य खत्म हो जायेगा और साहित्य खत्म होने पर वह सम्प्रदाय या समाज भी खत्म हो जाता है। उसका कही अस्तित्व ही शेष नही रहता।

आज हम देखते हैं—जहा-तहा शास्त्रो के भण्डार भरे पडे है । उनसे कोई स्वाध्याय कर लाभ नही उठाया जाता और न ही उनकी ठीक रूप से देख भाल ही की जाती है । शास्त्र अन्दर ही अन्दर पड़े-पडे गल जाते है और जब सड़-गल जाते है तो किसी जलाशय आदि मे विसर्जन कर दिये जाते है । लोग नही जानते कि साहित्य हमारी कितनी मूल्यवान् संपत्ति है । कितनी कठिन साधना और कितने घोर श्रम से हमारे पूर्वजों ने साहित्य की रक्षा की है ? विदेशी लुटेरो ने और आर्य सस्कृति एवं जैन सस्कृति के विरोधी सकीर्ण भावना वाले मतान्धों ने उस अनमोल धरोहर को नष्ट करने का प्रयत्न किया, प्राकृतिक उपद्रव दुर्भिक्ष आदि भी उसे निगलने को तत्पर हुए और कुछ भाग निगल भी गये, फिर भी तत्कालीन श्रुतधरो ने यथासंभव प्रयत्न करके उस महान् साहित्य को बचाया, जो आज हमारे समक्ष उपस्थित है । आज उसकी सुरक्षा के अनेक साधन उपलब्ध होने पर भी अगर उसकी सुरक्षा न हो सकी तो हमारी अपरिमित उपेक्षा कही जायेगी ।

तो हमारा कर्त्तव्य है कि हम साहित्य की सम्पूर्ण शक्ति से रक्षा करे और प्रतिदिन स्वाध्याय करके अपने ज्ञान की वृद्धि करे, दूसरे की ज्ञानवृद्धि मे सहायक हो और ज्ञान के पवित्र जल से आत्मा को निर्मल बनाये ।

सज्जनो ! जैसे आप लोग नोटो को बड़ी हिफाजत से रखते है, उसी प्रकार शास्त्र के एक-एक पन्ने को हिफाजत से रखना चाहिए और ऐसा न हो कि आपकी उपेक्षा के कारण वे भंडारो मे पडे-पड़े दीपक-भक्ष्य बने । पैसा तो नाशवान वस्तु है और कभी-कभी उपकार के बदले अपकार का भी कारण बन जाता है ।

रुपये की वदौलत आये दिन अनेकों को प्राणों से हाथ धोने पडते है। मगर ज्ञान अमरफल देने वाला है। उससे किसी के अपकार की सभावना ही नही की जा सकती। मगर इस वात को वही समझ सकता है, जिसे ज्ञान की कद्र हो और उसका महत्त्व समझता हो। भीलनी गजभुक्ता फेककर चिमरियो को गले मे धारण करती है और अपने को बड़ी भाग्यशील समझती है। यही हाल आप लोगों का है। आप कागज़ के छपे हुए टुकडो को मूल्यवान् मानते हैं, उन्हे पा जाने से अपने को भाग्यशाली समझते है और इतराते है, परन्तु जो वास्तव मे मूल्यवान् वस्तु है, आत्मा का गुण है, ज्योतिर्मय है, उसकी उपेक्षा करते है! उसे नगण्य समझते है। आपके मन मे न ज्ञान के प्रति, जैसा होना चाहिए, आदर भाव है, न ज्ञान के साधनो के प्रति और ज्ञानवानो के प्रति। आपके लिए धन ही सव कुछ है, धनवान् ही परमेश्वर है और धन को हो आपने स्वर्ग-मोक्षदाता समझ रक्खा है। यह पता ही नही कि अनादि काल से भवभ्रमण करते हुए अनन्त-अनन्त वार यह जीव उत्कृष्ट ऐश्वर्य का उपभोग कर चुका है, मगर उस ऐश्वर्य ने आत्मा का तनिक भी कल्याण नहो किया। हां, अकल्याण अवश्य किया, अनर्थ अवश्य उत्पन्न किये और आत्मा को अधोगामी अवश्य वनाया।

बन्धुओ! विश्वास करो और सच समझो कि परिग्रह अनेक प्रकार के अनर्थो की जड है। इस परिग्रह के लिए वडी-वडी लड़ाइया हुई है। रुधिर के परनाले वहाये गये है और लाखो-करोडो को असमय मे ही मौत के मुह मे जाना पडा है। ससार के इतिहास पर दृष्टि डालो और प्राचीन एव आधुनिक काल के महायुद्धो की पूर्वभूमि पर विचार करो। स्पष्ट प्रतीत होगा कि उन सवके मूल मे यह अनर्थकारी परिग्रह ही था! आज भी

समस्त संसार मे जितने पाप होते है, सब प्राय. परिग्रह के लिए ही होते है। कहा भी है—

परिग्रहमहत्त्वाभि, मज्जत्येव भवाम्बुधौ।
महापोत इव प्राणी, त्यजेत् तस्मात्परिग्रहम् ॥

अर्थात्—परिग्रह की महत्ता—अधिकता—के कारण प्राणी ससार-सागर मे इसी प्रकार डूब जाता है, जैसे अधिक भार लाद देने से जहाज समुद्र में डूब जाता है। अतएव परिग्रह का त्याग कर देना ही उचित है।

ऐसे अनर्थजनक परिग्रह के प्रति आपकी जितनी प्रीति है, उस से आधी भी अगर ज्ञान के प्रति हो, तो बेडा पार हो जाये। इसीलिए मैं कहता हूं कि आपको स्वाध्याय करना चाहिए। ऐसा करने से सम्यक्त्व का लाभ होगा। इस प्रकार प्राप्त होने वाला सम्यक्त्व सूत्ररुचि-सम्यक्त्व कहलाता है।

सूत्रो को पढ़ने से अपूर्व लाभ प्राप्त होता है। इस विषय में मेरा निज का अनुभव साक्षी है। जिस समय दत्तचित्त होकर स्वाध्याय की जाती है, उस समय परिणामधारा कुछ विलक्षण ही हो जाती है। चित मे अपूर्व आह्लाद का अनुभव होने लगता है।

यह बात सभी जानते है कि जब हम बालू के गर्म टीले के समीप जाते है तो उष्ण वायु हमारे शरीर का स्पर्श करती है और जब सागर के किनारे होते है तो ठडी-ठडी हवा लगती है। इस प्रकार शास्त्रो के सम्पर्क से—उनका अध्ययन करने से अपूर्व शान्ति प्राप्त होती है। आत्मा मे ज्ञान का उद्बोधन होता है।

शास्त्रकारो ने सम्यक्त्व की प्राप्ति का पाचवा कारण बीजरुचि बतलाया है। शास्त्र मे बीजरुचि सम्यक्त्व की परिभाषा यो दी गई है—

एगेण अणेगाइं, पयाइं जो पसरई उ सम्मत्तं ।
उदएव्व तेल्लबिंदू, सो बीयरुदृत्ति नायव्वो ॥

उत्तराध्ययन, अ० २८, गा० २२,

वट का वीज छोटा-सा होता है । परन्तु जमीन मे डालने से वह समय पाकर विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेता है और एक वीज के अनगिनती वीज हो जाते है । इसी प्रकार वीजरुचि मे प्रथम तो थोड़ी-सी रुचि होती है । किसी ने एक पद याद किया तो उसके वाद वह अनेक पद ग्रहण कर लेता है । उदाहरणार्थ—किसी ने धम्मो मगलमुक्किट्ठ ' यह एक पद याद कर लिया और समझ लिया तो वह आगे से आगे अनेक पद स्वय ग्रहण करता चला जाता है । जैसे पानी मे डाली तेल की एक बूद तरलता के कारण खूब फैल जाती है । जितना वडा पात्र होता है, उतने ही बड़े परिमाण को वह धारण कर लेती हैं । तो जिस प्रकार तेल का स्वभाव फैलने का है, उसी प्रकार वीजरुचि सम्यक्त्व का भी है । पहले थोड़ा ज्ञान होता है, फिर अधिकाधिक ज्ञान हो जाता है । कहा भी है—

स बीजरुचिरासाद्य, पदमेकमनेकधा ।
योऽध्यापयति सम्यक्त्वं, तैलविन्दुरिवोदके ॥

गणधर महाराज, तीर्थंकर भगवान् से त्रिपदी का ज्ञान ही प्राप्त करके अर्थात् 'उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा' अर्थात् वस्तु उत्पन्न भी होती है, नष्ट भी होती है और ध्रुव भी रहती है ; इतना-सा सक्षिप्त ज्ञान प्राप्त करके विशाल द्वादशागी की रचना कर देते है ।

गणधरो की वुद्धि अद्भुत होती है । वे सक्षेप मे कोई वात समझकर उसका अधिक से अधिक विस्तार करने मे समर्थ होते

है। हेय, ज्ञेय और उपादेय, इन तीन पदो को जानकर वे समस्त आचार शास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। ज्ञेय का अर्थ है जानने योग्य , अर्थात् जो-जो पदार्थ जिस-जिस स्थिति मे है, उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए । पदार्थों के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होने पर दो बाते मालूम होती है—कौन-कौन से पदार्थ ग्रहण करने योग्य है और कौन-कौन-से छोड़ने योग्य है ? यह निर्णय वही कर सकता है जिसने पदार्थों को समीचीन रूप से समझ लिया है।

जब हेय और उपादेय के ज्ञान का परिपाक हो जाता है तो मनुष्य दुर्गति मे ले जाने वाली वस्तुओ का त्याग कर देता है और जिनसे आत्मा का कल्याण और विकास होता है, उनको ग्रहण करता है।

सज्जनो ! सुनने-सुनाने की यह कोई बीमारी नही है ; इस का उद्देश्य यह है कि प्रवचन सुनकर जो बात ग्रहण करने योग्य प्रतीत हो, उसे ग्रहण कर लिया जाये और जो त्यागने योग्य हो उसे, त्याग दिया जाये। जैसे तप, जप और भलाई की बाते ग्रहण करने योग्य है और निन्दा, चुगली आदि पाप कार्य त्यागने योग्य है। जिस ने प्रवचन सुन लिया किन्तु सुनने-समझने के पश्चात् भी प्रमादवश या इन्द्रियो के वशीभूत होकर त्याज्य कर्मो का त्याग नही किया, उसका सुनना क्या काम आया ? क्योकि ऐब छोड़े बिना मजिल तक पहुंचना सभव नही है।

हमारी आत्मा मे अनेक दुर्गण भरे हुए है। प्रतिक्रमण करते समय आप लोग कहा करते है। कहवा में आव नही ; अवगुण भरे अनंत। लिखना मै क्यो कर लिखू, 'जानो श्री भगवत। ऐसा कह देने मात्र से कल्याण नही हो सकता। उन्हे छोडने का

भी प्रयत्न करना चाहिए। ईश्वर के भरोसे पर मत छोडो । वह तो जानता ही है, मगर अपने मन के पाप तुम स्वय भी तो जानते हो ! क्या पाप करने वाला मनुष्य नही जानता कि मै लुक-छिप कर क्या-क्या कर रहा हूं ! उसका पर्दा फाश न हो जाय, इसी से तो वह छिप-छिप कर पाप करता है और जानता भी है कि मै पाप कर रहा हू । परन्तु जब तक उन पाप कार्यो का परित्याग नही किया जायेगा, तब तक काम चलने वाला नही है। तुम दवा अपने पास रख कर साल भर लगातार उसकी प्रशसा किया करो, रोग तो उसका सेवन करने से ही मिटेगा। मुसलमानो का कहना है कि गुनाह करके खुदा से माफी माग लो तो वह माफ कर देगा। आप भी कह सकते है—'हे अन्तर्यामी ! मेरे अपराध क्षमा कर दो।' मगर इस प्रकार कहने से वह क्षमा करने वाला नही है। हे जीव ! तीर्थंकर भगवान् भी तेरे पापो को निष्फल नही बना सकते। फिर खुदा या परमेश्वर की तो क्या चलाई है ! किसी के लड़के ने जहर खा लिया और ज़हर खाने के बाद वह कहता है —'मैने ज़हर खा लिया है। मुझे क्षमा कर दीजिये ।' ऐसा कहने पर पिता तो क्षमा कर देगा किन्तु पेट मे गया हुआ जहर माफी नही देगा और अपना असर दिखलायेगा ही। ज़हर जड है और वह माफी देना नही समझता । वह अपना असर अवश्य दिखलायेगा। जड उसकी तरफ देखेगा भी नही, क्योकि उसके तो चादनी चौक और बड़े दरीबे मे पहले ही पूरी हडताल है ! अर्थात् जड जहर के आंखे नही है तू कितना ही रुदन कर या मिन्नतें कर, मगर वह देखे सुनेगा नही ; क्योकि जड़ मे देखने-सुनने की शक्ति नही है। वहां तो 'अधे के आगे रोना और अपने नेत्र खोना' वाली कहावत चरितार्थ होती है।

सज्जनो ! पंजाव मे सुनाम नामक एक नगर है । वहा के लाला पन्नालाल जी जैन का वेटा वीमार हुआ और सख्त वीमार हुआ। आप जानते है कि इन्सान से भूले तो होती ही रहती है और भगवान् ने कहा है कि जो अपने पापो का दण्ड-प्रायश्चित्त लेकर मरता है, वह भगवान् की आज्ञा का आराधक है, किन्तु जो पापो की पोटली सिर पर लेकर और उनके लिए आलोचना-प्रायश्चित्त किये विना ही मर जाता है, वह आज्ञा का विराधक है। वह वीमार श्रावक का लडका था और इस उपरोक्त वात को वह जानता था। परन्तु उस समय उसके पास कोई साधु या समझदार श्रावक नही था, जिसके सम्मुख वह अपनी भूलो की आलोचना कर लेता। हा, एक मूर्त्तिपूजक श्रावक अवश्य उसके पास पहुंच गये थे, जिन्हे लोग भगतजी कहते थे। उसने उस लडके को सलाह दी—तुम मन्दिर मे जाकर मूर्त्ति के सामने आलोचना कर लो ! मगर किसी पुरुष के आगे आलोचना करने से तो सार निकल सकता है, क्योकि वह दोपी को समझा सकता है और उसे यथोचित प्रायश्चित्त देकर उसका शुद्धिकरण कर सकता है। जड के समक्ष आलोचना करने से क्या लाभ है ? जड मूर्त्ति को न तो दोप और दोपी का ज्ञान है और न ही प्रायश्चित्त का ज्ञान है। उससे शुद्धि होने के कारण ही नही है। जिसमे दस गुण हो उसके आगे आलोचना करनी चाहिए। जो ज्ञानवन्त हो, दर्शनवान् हो, चरित्रवान् हो, धारणवृत्ति वाला हो, खड-खड कर प्रायश्चित्त देवे, जो इस लोक तथा परलोक का भय दिखलाने वाला हो कि—अगर आलोचना नही करोगे तो तुम्हारी गति यहाँ और आगे भी बिगड जायेगी। जो लाज के कारण अपने दोप प्रकट नही करना चाहता, उसे आलोचना सुनने वाला ऐसा उपदेश दे कि—इसमे लाज करने

की आवश्यकता नही। गुप्त स्थान पर भी यदि कोई रोग हो जाता है तो डाक्टर को दिखलाना ही पड़ता है और यदि नही दिखलाता है तो हानि उठाता है अथवा प्राणो से हाथ धोता है। मगर उस गुह्य स्थान का निरीक्षण कराया जाता है तो डाक्टर से ही कराया जाता है। ऐसा तो नही कि हरेक के सामने नगा हो जाये और अपना रोग दिखलाता फिरे। हा, अगर डाक्टर को भी न दिखलाये तो मौत का आह्वान करता है।

तो आलोचना सुनने वाला, करने वाले को हेतु, दृष्टान्त और उपदेश देकर तैयार कर ले और आलोचना करवाये। किन्तु सज्जनो! अन्दर के चोरो को निकालना बहुत कठिन है। अतएव भगवान् ने आलोचना एव आत्मनिन्दा का बहुत फल बतलाया है। अगर कोई स्वय आलोचना करता है तो भी उसे शुद्ध हृदय से करना चाहिए। आलोचना किसके समक्ष की जाये, इस विषय मे कहा गया है कि-गुरु के सामने या आचार्य के सामने आलोचना करो, आचार्य न हो तो दूसरे गच्छ के आचार्य के पास करो। क्योकि रोगी को तो डाक्टर चाहिए, फिर चाहे वह ब्यावर का हो, जयपुर का हो या अजमेर का हो, पर चाहिए होशियार डाक्टर! यदि दूसरे गच्छ का भी आचार्य न हो तो बहुश्रुत के समक्ष आलोचना करना चाहिए। वह भी न हो तो सामान्य साधु के समक्ष करना चाहिए। कदाचित् साधु का भी योग न मिले तो पच्छाकड (पश्चात्कृत) अर्थात् जिसने साधुपना छोड दिया है, किंतु वह शास्त्रो का ज्ञाता है, उसके सामने भी आलोचना की जा सकती है। वह चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से संयम से च्युत हो गया है, क्योकि मोहकर्म बडा प्रबल होता है। बडे-बडे पूर्वो के वेत्ता भी सयम से गिर जाते है और नरकगामी बन जाते है। चढ़ने में देर लगती है, पर गिरने मे देर नही लगती। वह

कभी साधु बना था। जातिमान् और कुलवान् है। किन्तु मोहनीय कर्म के उदय से संयम से गिर गया है, किन्तु गृहस्थ होकर भी धर्म से विमुख नहीं है तो उसके सामने आलोचना की जा सकती है। सज्जनो ! कोई-कोई ऐसे भी होते है जो संयम से भ्रष्ट होने के पश्चात् धर्म से और नीति से भी विमुख हो जाते है। संघ या धर्म के लिए कुल्हाड़े बन जाते है। मगर जिसमे धर्म के प्रति श्रद्धा है, शास्त्रो के प्रति रुचि है और जिसका सम्यक्त्व दृढ है, उसके सामने आलोचना की जा सकती है। डाक्टर रिटायर्ड हो गया है तो क्या हो गया, उसमें योग्यता तो है। जज निवृत्त हो गया है तो भी अनुभवी है और लोग उससे सलाह लेने जाते है। यद्यपि वह पद से अलग हो गया है, उसकी योग्यता तो बनी है। इसी प्रकार पश्चात्कृत संयम से दूर हुआ है, किन्तु उसका सम्यक्त्व और ज्ञान तो दूर नही हुआ है।

सज्जनो ! सम्भव है कभी उक्त साधनो मे से किसी भी साधन का योग न मिले तो जगल मे चला जाये और शुद्ध हृदय तथा शुद्ध भावना से, आत्मा के अंतरंग से कहे—'अवराही ह भगवं।' अर्थात् प्रभो ! मैं गुनहगार हू, अपराधी हूं ; मैंने पापो का आचरण किया है। इस प्रकार अगर पापों की आलोचना करता है तो भगवान् का कथन है कि आलोचना हो गई। जंगल मे जाकर पुकारने से भी आलोचना हो गई।

मगर एक बात ध्यान में रखिए। केवल बोलने ही बोलने से काम नही चलता। आवश्यकता इस बात की है कि आप जिन दोषो की आलोचना करते है, उन सबका त्याग करना सम्भव न हो तो भी उनमें से एक दो का प्रतिदिन त्याग करते रहे। अगर रूढ़ि को

पालने के लिए रोज-रोज आलोचना करते रहे और दोषो का त्याग करने के वदले नये-नये दोषो को भीतर घुसेड़ते चले गये तो शोर मचाने मे कोई लाभ न होगा।

तो जिसमे दस गुण होते है, उसके पास आलोचना करनी चाहिए। इन दस गुणो का धारक चेतन ही होता है। जड़ मे यह गुण नही होते। रवड़ का वकील कभी वकालत नही करता देखा जाता। कोई वुत कभी फैसला नही कर सकता। निर्जीव वस्तु चेतन की क्रिया कैसे कर सकती है?

हा, तो वह भगतजी उस लड़के को मन्दिर मे ले गये। वह लडका भोला था, उनकी वातों मे आ गया। उसने मूर्त्ति के सामने आलोचना की। भगतजी ने उसपर ऐसी भुरकी डाली कि उसके जीवन की लाइन ही वदल गई। वह रोज मन्दिर मे जाने लगा, जव मै वहाँ गया उस लडके ने मुझ से अपनी पूर्व राम कहानी कह सुनाई। मैने कहा—भोले जीव! तू किस चाले लग गया? अगर आलोचना करनी ही थी तो उसी श्रावक के सामने कर ली होती। मगर तूने किस जड मूर्त्ति को वकील वनाया? जिसे कानून का कुछ पता ही नही है!

इत्यादि समझा-बुझा कर उस लड़के को ठीक मार्ग पर लाया गया।

सज्जनो! कई लोग धर्म की आड़ मे भी शिकार खेलते है। तो आलोचना अवश्य करते रहना चाहिए। आलोचना करने से अपनी भूलो का पता लगता रहता है। जिसने दूकान का वही-खाता ही न देखा हो उसे अपने आय-व्यय का पता ही क्या चल सकता है? जो कभी हिसाव-किताव नही देखता, उसे शीघ्र ही तप्पड़ समेट लेने की नौवत आ जाती है।

इसी प्रकार साधु की दूकान भी तभी तक चलती है, जब तक वह शास्त्रो का प्रतिदिन नियत समय पर स्वाध्याय करता रहता है। मगर आजकल कई साधुओ को राष्ट्रीय——राजनीतिक साहित्य पढने की बीमारी लग गई है। दुनियादार लोग वैसा साहित्य पढ़े तो ठीक भी कहा जा सकता है, किन्तु साधु को उससे क्या प्रयोजन है ? जिसने जिस प्रकार का जीवन-निर्माण करना निश्चित किया हो, उसे उसी ढग का साहित्य पढना उचित है, जिससे वह अपने ध्येय के निकट पहुचे और प्रेरणा पा सके। जीवन का लक्ष्य भिन्न हो और अध्ययन भिन्न ही प्रकार का हो तो एक प्रकार का सघर्ष उपस्थित हो जाता है। उससे लाभ के बदले हानि हो सकती है।

मगर आज अग और अगबाह्य सूत्रो का स्थान राष्ट्रीय ग्रथो ने ले लिया है। आज अनेक साधुओं की दृष्टि मे सूत्रो का महत्त्व उतना नही है, जितना विनोबाभावे के भूमिदान सम्बन्धी साहित्य का है। पर ससार से विरक्त हो जाने पर तेरी लाइन ही दूसरी हो गई है। तेरे पास भूमि नही है। तुझे किसी को भूमि देनी नही है, किसी से लेनी भी नही है, फिर उस झझट मे किसलिए पड़ता है ? उस साहित्य को पढने से तुझे क्या लाभ होगा ? फिर भी वे उसे पढते है और परिणाम यह होता है कि उनके विचारो मे घपला हो जाता है।

इसका आशय यह नही कि मै विनोबा जी के साहित्य को बुरा मानता हू अथवा उसका विरोधी हू। जिस उद्देश्य से वह लिखा गया है, वह उस दृष्टि से ठीक माना जा सकता है और प्रेरणा-प्रदायी भी हो सकता है, मगर यहाँ तो साधना के क्षेत्र का प्रश्न है। एक विद्यार्थी वकील बनना चाहता है और विज्ञान की पुस्तके

पढता है। दूसरा विज्ञानवेत्ता बनने चला है मगर राजनीति का साहित्य पढता है। तो वह साहित्य भले अच्छे से अच्छे लेखक का ही क्यो न हो और अपने विषय का कितना ही विशद विवेचन क्यो न करता हो, मगर वह उस पाठक के लिए उपयुक्त नही होगा। उस साहित्य से उसे अपने क्षेत्र मे कोई लाभ नही मिलेगा। यही नही, वह पाठक गड़बड़ मे पड जायेगा। न इधर का रहेगा न उधर का रहेगा।

साधु उच्चकोटि की आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र मे अवतीर्ण हुआ है। अतएव जिस साहित्य से उसे उस क्षेत्र मे अग्रसर होने की प्रेरणा मिले, सुविधा हो, उस विषय की गूढ समस्याओ का समाधान प्राप्त हो, वही साहित्य उसे पढना चाहिए। ऐसा करने से उसके चित्त मे अनावश्यक द्वन्द्व उत्पन्न न होगा और वह बिना घपले मे पडे अपने क्षेत्र में अग्रसर होता चला जायेगा।

जिनका लक्ष्य निर्णीत नही है, जिनको मार्ग का भी ठीक-ठीक पता नही है, जिनका दिल और दिमाग सुलझा नही है, वे आज गड़बड़ मे पडे है और दूसरो को भी गड़बड मे डाल रहे है। कोई किसी ओर और कोई किसी ओर जा रहा है। यह सब पतन के मार्ग है।

तो जिसने वीतरागप्रणीत मार्ग को अगीकार करने का निश्चय किया है और उसी मार्ग पर चलना चाहता है, उसे विशेष रूप से शास्त्रो का अवश्य अध्ययन करते रहना चाहिए, जिससे उस मार्ग की श्रद्धा बढती रहे, बोध बढ़ता रहे, प्रेरणा और स्फूर्ति प्राप्त होती रहे।

जैसा शीशा सामने होगा, वैसी ही सूरत नजर आयेगी। जैसा साहित्य पढ़ा जायेगा, मानस पर प्रायः वैसा ही असर पड़ेगा।

कम से कम कच्चे-पक्के के लिए तो यह बात सर्वांश मे सत्य बैठती है। हा, कोई परिपक्व हो गया हो, जिसका निश्चय दृढ हो और जिसकी दृष्टि मे किसी प्रकार का विकार न हो, वह मिथ्या सूत्रों को पढ़कर भी विचलित न होगा। बल्कि वह उन्हे सम्यक् रूप में परिणत कर लेगा।

जिसे अपने घर का ही पता नही, वह दूसरे के घर का पता लगाने चलेगा तो वही फँस जायेगा।

पक्षी अपने बच्चे को पहले चोच मार-मार कर देखता है कि वह उड़ने योग्य हो गया है या नही। उसके बाद ही उसे उड़ने देता है। योग्य नही होता तो बच्चे को परो से दबा कर रखता है। आपको भी अपने बालको को इसी प्रकार संभाल कर रखना चाहिए कि वे मिथ्यात्व के सस्कारो से दूर रहे और उनके कच्चे विचारो से कोई अनुचित लाभ न उठा सके।

हा, तो इस प्रकार धर्म-श्रद्धा को बढ़ाने के लिए सूत्रों का स्वाध्याय करना अत्यन्त उपयोगी और हितकर है। स्वाध्याय से चित्त एकाग्र हो जाता है, बोध की वृद्धि होती है, शान्ति की प्राप्ति होती है और श्रद्धा मे दृढता आती है। इसी कारण शास्त्रो का स्वाध्याय अन्तरग तपस्या मे गिना गया है। इस काल मे चित्त की एकाग्रता के लिए स्वाध्याय से बढ़ कर दूसरा कोई सरल साधन नही जान पड़ता।

तो चाहे बीजरुचि हो या सूत्ररुचि, दोनो उपादेय और श्रेयस्कर है। बीजरुचि हो जायेगी तो एक दिन वह बीज ही वृक्ष का रूप धारण कर लेगा। मगर बीज के वृक्ष का रूप धारण करने के लिए यह आवश्यक है कि ज़मीन अच्छी हो। ज़मीन कठोर होती

हैं तो उसमे वीज नही उगता, वल्कि अन्दर ही खत्म हो जाता है। इसी प्रकार जिसकी हृदय रूपी जमीन मुलायम होती है, वज्र के समान कठोर नही होती, उसके हृदय मे सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। शास्त्रकार कहते है कि जिसका हृदयँ शुद्ध होता है, वुद्धि शुद्ध होती है और जिसने ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम किया है, उसको वीजरुचि समकित प्राप्त होती हैं। जैसे एक वीज से हजारो वीज उत्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार एक पद याद होने पर हजारो पद भी याद हो जाते हैं। 'वस्तु उत्पन्न होती है, नष्ट होती है और ध्रुव वनो रहती हैं' यह त्रिपदी है। भगवान् से इस त्रिपदी का ज्ञान प्राप्त करके ही गणधर वारह अगो की रचना कर डालते है। इन तीन पदो मे सम्पूर्ण दर्शनशास्त्र का समावेश उसी प्रकार हो जाता है, जिस प्रकार वट-के सूक्ष्म वीज मे विशालतम वटवृक्ष का समावेश रहता है। 'एक था रावण और एक था राम, उसने उसकी तिरिया हरी, उसने उसकी लका हरी', वस सारी रामायण इसमे आ गई। सागर को गागर मे भर देना यही तो कहलाता है।

इसी प्रकार जो समकित पहले सूक्ष्म रूप मे होती है, वही धीरे-धीरे फैल कर विशाल रूप धारण कर लेती है। अतएव वीज होगा तो सव कुछ हो जायेगा। वीज ही न होगा तो कुछ भी होने वाला नही है। याद रखना कि हमारा जप, तप, व्रताचरण आदि जो भी साधनाए हैं, समकित की मौजूदगी मे ही सफल हो सकती है। तत्त्व पर विश्वास होना चाहिए। वीतराग के वचन मे शंका नही होनी चाहिए। शका से काम नही चलता। धर्म के विपय मे तो शका हानिकारक है ही, परन्तु संसार मे भी शका से काम नही चलता। एक व्यक्ति दूकानदारी करता है, परन्तु उसे विश्वास नही कि लाभ होगा अथवा हानि! और हर समय वह

इसी शका मे डूवा रहता है। तो किस प्रकार वह क्रय-विक्रय कर सकेगा और कैसे व्यापार चला सकेगा । एक विद्यार्थी दिन-रात इसी शका मे रहता है कि न जाने मै परीक्षा मे उत्तीर्ण होऊगा या अनुत्तीर्ण ; वह एकाग्र मन से पढ नही सकता और उत्तीर्ण होकर उपाधि भी प्राप्त नही कर सकता। उसे सोचना चाहिए कि आये वर्ष हजारो-लाखो विद्यार्थी उत्तीर्ण होते है। उन्होने अध्ययन किया तभी तो उत्तीर्ण हुए है ! जो स्कूल की शक्ल ही नही देखता वह कैसे उत्तीर्ण होगा। अतएव प्रत्यक्ष परिणामो को देख कर विद्यार्थी को पढना चाहिए । तुम अपनी ओर से कुछ उठा न रक्खो, परिश्रम करो, फिर जो होने वाला है, हो जायेगा।

अनुत्तीर्णता के भय से पढ़ना ही वद कर देना वड़ी भारी मूर्खता होगी। किसी ने किसी को वर देखने लिए भेजा। कहा—अठारह वर्ष का वर (लडका) देख आना। वह गया और जव उसे अठारह वर्ष का कोई योग्य लडका न मिला तो उसने नौ-नौ वर्ष के दो लडके देख लिये और लड़की की सगाई कर आया। नियत समय पर दो वराते आ गईं। तव लड़की के वाप ने उससे पूछा—क्या मामला है ? ये दो वराते कैसे और दोनो ही वीद छोटे क्यो है ?

सगाई करने जो गया था, उसने कहा—अठारह वर्ष का एक लड़का नही मिला तो मै ने ९-९ वर्ष के दो लड़को के साथ सगाई कर दी थी।

लडकी के वाप ने कहा—अरे मूर्ख ! तूने यह क्या किया ?

वह वोला—हुजूर ! मैंने अच्छा किया। खूव दूर तक का विचार किया। कदाचित् एक लड़का मर गया तो भी वाई जी विधवा नही होगी, दूसरा मौजूद रहेगा !

सज्जनो ! उसे बाई जी के रांड होने की शका पहले से ही हो गई। उसने यह नही सोचा कि एक-दो नही करोडो मरते है और मर गये , फिर भी यह नदी तो उसी गति से बह रही है और बहती रहेगी, कहा है—

खिला सो मिला समझ ले दिला !
घड़ा सोई फूटा, ये दिल में जचा है,
कहो इस काल से कौन बचा है ?
करो एक धर्म जो जग में सच्चा है ॥ १ ॥
हुए हैं जो शहनशाह जगत में,
उन्हीं के भी नाम का चिट्ठा कच्चा है ॥ २ ॥

ज्ञानी कहते हैं—जो फूल खिलता है, वह कुम्हला जाता है और जो मटका घड़ा जाता है, वह फूट जाता है। सभाल कर रखने पर भी वह सदा के लिए नही टिक सकता। क्योकि पुद्गलमय पदार्थो की उत्कृष्ट स्थिति असख्यात काल से अधिक नही है और जघन्य सिर्फ एक समय की ही है। इस प्रकार जिसका जन्म हुआ है, वह मरेगा ही। ऐसी स्थिति मे एक के बदले दो वर ले आना हद दर्जे की मूर्खता ही कही जा सकती है। दुर्भाग्य से दोनो की मृत्यु हो जाये तो क्या होगा ? अतएव मनुष्य को विश्वास के साथ उचित कर्म मे लग जाना चाहिए। शका ही शका मे पड़े रहने से काम नही चल सकता। शकाशील मनुष्य कदापि सफलता प्राप्त नही कर सकता।

पति और पत्नी जिन्दगी के साथी है। उनमे पारस्परिक विश्वास न हो तो जिंदगी कैसे निभेगी, यह आप सोच सकते है। पति को पद-पद पर आशका बनी रहे कि पत्नी कही मुझे ज़हर

न दे दे, और पत्नी को सदा यही सन्देह बना रहे कि पति मुझे त्याग न दे, तो ऐसी स्थिति मे गृहस्थ-जीवन नारकीय बन जायेगा। उनके जीवन मे प्रमोद, आनन्द का उद्रेक कहा से आयेगा ? उत्क्रान्ति कैसे होगी ? दोनो को प्रत्येक के प्रति शका है। अत. पति पत्नी की ठीक तरह रक्षा नही कर सकेगा और पत्नी पति की सेवा नही कर सकेगी।

अतएव भद्र पुरुषो ! किसी भी क्षेत्र मे अविश्वास से काम नही चलता है। रोगी अगर डाक्टर पर भरोसा नही करता और सोचता है कि शायद यह दवा के रूप में विष देकर मुझे मार डालेगा ; तो किस प्रकार वह दवा लेगा और स्वास्थ्यलाभ कर सकेगा ?

आखिर जिंदगी निभाने के लिए विश्वास को अपनाना ही पडता है। श्रद्धा के अभाव मे कोई भी कार्य पूर्ण रूप से सफल नही हो सकता। परन्तु श्रद्धा भी दो प्रकार की है—सुश्रद्धा और कुश्रद्धा। कुश्रद्धा मिथ्यात्व है और सुश्रद्धा समकित है। सुश्रद्धा समझाने पर भी कठिनाई से आती है, परन्तु मिथ्या श्रद्धा बिना समझाये-बुझाये अपने आप ही अड्डा जमा लेती है। जीव मिथ्यात्व की ओर उसी तरह स्वत. लपकता है जैसे पतगा दीपक पर जाकर गिरता है। मगर परिणामस्वरूप वह मारा जाता है।

याद रखिये, दीपक पतगे को एक जन्म मे ही मारता है मगर मिथ्यात्व रूपी दावानल अनेक जन्मो मे जीव को मारता रहता है।

इसीलिए ज्ञानी पुरुषो का कथन है कि जिसमे क्रोध, मान, माया और लोभ की मात्रा अधिक होती है, वह ठीक रूप से सम्य-

त्तव का पालन नही कर सकता । वह तो यही सोचता है कि मुझे रुपये से मतलव है और वह चाहे कही से भी मिले और कैसे भी मिले ! धर्म जाये तो चला जाये, उससे मुझे प्रयोजन नही । वस, पैसा आना चाहिए ।

ऐसे लोभी लोग बुरी तरह जलील होकर मरते है । आपने सागर सेठ के विषय मे सुना होगा । उसके पास धन का अक्षय खजाना था । कई पीढियो के लिए वह पर्याप्त था । जैसे वहुत अमित जलराशि होने के कारण समुद्र सागर कहलाता है, उसी प्रकार अपरिमित धन होने के कारण वह सेठ भी सागर कहलाता था । उसने धनोपार्जन करना ही अपने जीवन का ध्येय वना लिया था । वह न अच्छा खाना जानता था और न खर्च करना ही । किसी दीन-दुखी को दान देना भी पाप मानता था ।

सागर सेठ के चार पुत्र थे । चारो आज्ञाकारी थे । चार पुत्र-वधुएं थी और वे अच्छे घरानो की थी । पिछले जन्म मे उस सेठ ने लाभान्तराय कर्म तो तोड़ा था, किन्तु दानान्तराय और भोगा-न्तराय कर्म तीव्र वाधा था । इन कर्मो के प्रभाव से वह धन का दान और भोग नही कर पाता था । वह परिवार के भोगोपभोग को भी सहन नही कर सकता था । वहुए कभी नये वस्त्राभूपण धारण कर लेती तो उसकी छाती पर साप लोट जाता था ।

सागर सेठ साग-भाजी लाता तो सडी-गली लाता । कभी अच्छी चीज लाने की हिम्मत ही उसकी न होती थी । अनाज भी ऐसा रद्दी लाता, जिसे गधे भी खाना पसंद न करे । यद्यपि उसके घर मे किसी चीज की कमी नही थी, परन्तु कृपणता के कारण सव कुछ होते हुए भी कुछ न होने के ही समान था । कजूस मनुष्य धन की रखवाली भर कर सकता है ।

सागर सेठ की चारो वहुए विचार करती—हम कितनी अभागिनी है कि ऐसे भरे-पूरे घर मे आकर भी खाली हाथ ही चली जायेगी । न हम अच्छा खा सकती है, न खिला सकती है और न पहिन-ओढ सकती है । फिर भी वधुएं सब कुलीन थी, अतएव संतोष और शान्ति के साथ समय व्यतीत कर रही थी । किसी भी प्रकार कलह को प्रश्रय नही देती थी ।

सज्जनो ! आज अनेक ऐसी स्त्रिया मिलेगी जो अच्छा खाना-पीना-पहनना न मिलने पर दूसरा घर तक सभाल लेती है । यदि ऐसा न करें तो घर को कलह का अड्डा तो वना ही लेती है । मगर वे सन्नारिया समझती थी कि हमे जो अभाव है, वह हमारे ही कर्म का फल है । अतएव धैर्य और सन्तोप के साथ हमे कर्म-फल का भोग करना चाहिए और चित्त मे अशान्ति नही आने देनी चाहिए । जिनको अपने कर्मो पर विश्वास होता है, उन्हे जीवन को विकसित करने का कोई क कोई साधन मिल ही जाता है । वे सोचा करती थी कि जीवन में कभी न कभी ऐसा समय भी आयेगा जब हम सुखी होगी, यही विचार उन्हे सान्त्वना देता था ।

कुछ दिनो वाद एक सिद्ध पुरुष आये और सागर सेठ के घर गये । सेठ उस समय वाहर गया था । पुत्रवधुओ ने उसका हार्दिक अतिथि-सत्कार किया और उत्तम भोजन कराया । सिद्ध पुरुष भोजन करके निवृत्त हुए ही थे कि सेठ लौट आया । सेठ ने उसे देखा तो उसका मानो सारा शरीर जल कर राख हो गया । सोचने लगा—यह लुटेरा कहा से आ गया ! इसे मेरे घर के सिवाय दूसरा कोई घर ही नहीं मिला ! यही आकर मरा ! फिर उसने वहुओ को वुरी तरह लताड़ा । कहा—न जाने किस घर की डाइने मेरे

घर मे आ गई है ! ये घर को चौपट करके ही मानेगी । मोड़ो को खिला-खिला कर मेरा घर उजाड़ देने को तैयार हुई है ।

सिद्ध पुरुप चला गया । जाने से पहले उसने वहुओ को भक्ति-भाव से सन्तुष्ट होकर एक मत्र दिया और कहा—इस मत्र को तीन वार जपने से तुम जहा चाहोगी, वही उड कर पहुच जाओगी ।

मत्र प्राप्त कर वहुए वहुत प्रसन्न हुई । उनके आनन्दविहीन जीवन को आनन्द देने का एक साधन मिल गया। उन्होने लक्कड का एक मोटा-सा लट्ठा वनवाया । उसके सहारे उसपर वैठ मत्र की शक्ति से कभी कही और कभी कही सैर करने जाने लगी ।

किन्तु सेठ वडा होशियार था । वहुओ का जाना उससे छिपा न रहा । उसने मन ही मन विचार किया—वहुए मत्रवल से इस लट्ठे पर सवार होकर सैर करने जाती है, मगर कहा जाती है और क्या करती है, यह पता लगाना चाहिए । यह सोचकर उसने उसी लक्कड मे एक छेद करवाया और उसका ढक्कन ऐसा वनवाया कि वद कर देने पर सहसा पता न लगे ।

एक प्रहर रात्रि शेप थी । चारो वहुए सैर करने की तैयारी कर रही थी । उसी समय सागर सेठ उस लक्कड मे जा वैठा । ढक्कन वद कर दिया । फिर वहुए लक्कड के पास आई और कहने लगी—श्वसुरजी जव तक सो रहे है, हम सैर कर आवे और जल्दी लौट आवे ।

उन्हे क्या पता था कि वुड्ढा पहले ही रिजर्व वैक मे आकर जमा हो गया है । वे लक्कड पर वैठ गई । मत्र पढ़ते ही लक्कड विमान की तरह सर्र-सर्र करके उड़ चला । उड़ते-उड़ते वह रत्न-

द्वीप पहुंचा । वहां उसे नीचे उतारा । वहुए लक्कड से नीचे उतर कर सैर करने लगी और वहां के प्राकृतिक नजारे देखकर अपने नेत्रो और हृदय को आनन्दित करने लगी ।

रत्नद्वीप के दृश्य वडे भव्य और सुहावने थे । यत्र-तत्र नैसर्गिक सुषमा विखरी पडी थी । कही-कही पहाड पर से सरिताओ का और नलो का तीव्र वेग से उतरना अनोखी छटा दिखला रहा था । रंग-विरंगे पुष्प हस रहे थे और अपनी मधुर हंसी से दर्शको का चित्त हरण कर रहे थे । पूर्व दिशा मे अरुणोदय का दृश्य अद्भुत था । अभिप्राय यह कि वहां ऐसा प्रतीत होता था, मानो स्वर्ग ने धरती पर उतर कर अपना वैभव विकीर्ण कर दिया है ।

सेठ की वधुओ ने यथेष्ट विहार किया । मधुर फलो का और मेवो का आस्वादन किया । इस प्रकार अपने चित्त को प्रमुदित करने लगी ।

उधर सागर सेठ भी उस लक्कड से वाहर निकला । इधर-उधर दृष्टि दौड़ाई तो पता चला कि वहुए दूर चली गई है । वह भी इधर-उधर फिरने लगा । उसे जहां-तहा रत्नो के ढेर दिखाई दिये । रत्न देखते ही उसका मन वाग-वाग हो गया । उसने रत्न वटोरना आरम्भ किया और जितने उस लकडी की थोथ मे समा सकते थे, भर लिये । सिर्फ इतनी ही जगह शेप रहने दी, जितनी सिकुड़ कर वैठने के लिए उसे आवश्यक थी । वह उसमे उसी प्रकार सिकुड कर वैठ गया जैसे वच्चा मा के गर्भ मे सिकुड कर रहता है ।

वहुएं सैर करके लौट आई । कहने लगी—अव जल्दी चलना चाहिए । कही सेठजी पहले ही जाग उठे तो खैर नही है । चारो लकड़े पर वैठ गई । लकड़ा उड़ने लगा । वीच में समुद्र पड़ता

था। जव वे समुद्र के ऊपर उड रही थी तो उनमे से एक ने कहा—क्या कारण है कि आज लकडा भारी मालूम होता है। इसी कारण धीरे-धीरे चल रहा है। इस चाल से चलते रहने पर तो लड़ाई हुए बिना न रहेगी।

दूसरी ने हँस कर कहा—मौसिम आने पर हजारो पत्ते पेडो मे लगते है और आने पर झड जाते है। मगर हमारे श्वसुर साहव का मौसिम न जाने कव आने वाला है!

तीसरी वोली—हमारे पिताजी ने तो अच्छा ही घर देखकर दिया था, किन्तु दुर्भाग्य हमारा कि सुख नही मिला।

चौथी ने कहा—किसी को दोप देना नादानी है। जो कुछ होता है, अपने ही कर्मों से होता है। मनुष्य अपने अनिष्ट के लिए किसी दूसरे को दोपी ठहराता है और आप साफ वच जाना चाहता है। वह अपने ऊपर उस अनिष्ट का उत्तरदायित्व नही लेना चाहता। परन्तु यह उसका भ्रम है। एक का अनिष्ट कोई दूसरा नही कर सकता।

पहली फिर वोली—मगर इस शास्त्रार्थ मे ही समय निकल जायेगा और घर पहुच कर उत्तर देना मुश्किल हो जायेगा।

दूसरी ने कहा—वात तो ठीक है। अच्छा हो, इस लकड़े को छोड दिया जाये और दूसरा ले लिया जाये।

तीसरी—मगर दूसरा दिखाई दे तव न?

यह वाते हो ही रही थी कि सयोगवश उन्हे समुद्र मे एक पटिया वहता दिखाई दिया। वह किसी जहाज के टूटने से अलग होकर वहता चला आ रहा था।

उसे देख कर एक ने तो कहा—वह रहा दूसरा पटिया! इसे छोड़ो और उसे पकड़ो।

शेष ने भी कहा—ठीक है, ठीक है।

सब बहुओ की बाते सुन कर सागर सेठ के प्राण सूखे जा रहे थे। जब उसे प्रतीत हुआ कि इन्होंने इस लकड़े को समुद्र मे छोड़ देने का सर्वसम्मत निर्णय कर लिया है, तो उससे न रहा गया। अपने प्राण बचाने के लिए उसने कहा—'बहुओ ! भीतर मै हू।'

'मै हू' की आवाज़ सुनते ही वे बुरी तरह घबरा गई। उन्होने सोचा—इसमे तो भूत ज्ञात होता है !

उन्होने हडबडा कर उस लकडे को छोड़ दिया और तख्ते पर सवार होकर घर पहुची। सागर सेठ सागर मे निमग्न होकर पाताल लोक मे जा पहुचा और कई सागर की उम्र पाकर नरक की यातना भुगतने लगा।

सागर सेठ दुर्गति का पात्र बना, क्योकि उसकी अन्तरात्मा अति लोभ-लालच से ग्रसित थी। घर मे सब कुछ होते हुए भी उसने कुटुम्बी जनो को तरसाया और दुखी किया।

बहुएं घर पहुची तो श्वसुर साहब का कही पता नही चला। पता चलता भी तो कैसे चलता ? वह अब इस ससार मे कही थे ही नही।

कुछ समय पश्चात् घूमते-फिरते एक ज्ञानी गुरु वहा पहुचे। सागर सेठ के चारो लडके उनके दर्शनार्थ गये। लडको ने उनसे अपने पिता के विषय मे प्रश्न किया। तब गुरु जी ने सारी रामकहानी सुनाई। अन्त मे कहा—अब वे लौटकर आने वाले नही है। अतिलोभ के कारण वे सागर मे डूब कर मर गये है।

सज्जनो ! कहने का अभिप्राय यह है कि जिसके जीवन में अतिलोभ होता है, उसे समकित की भी प्राप्ति नही होती। जिस धन का उपार्जन करने और संरक्षण करने के लिए मनुष्य दिन रात

एक कर देता है और जीवन के समस्त सुखो का भी परित्याग कर देता है, वह नाशमान् है। वह किसी भी समय मनुष्य को धोखा देकर चला जाता है। मनुष्य उसके लिए रोता है, बिलखता है, दुखी होता है। परन्तु धन को धनवान् की जरा भी परवाह नही होती। कदाचित् धन न जाये तो मनुष्य ही उसे छोड़ कर चल बसता है। इस प्रकार चाहे धन धनी को छोडे अथवा धनी धन को छोड़े, परिणाम एक ही होता है। प्रत्येक दशा मे धनी को परिताप होता है। ऐसी हालत है धन की !

नीतिकार यथार्थ ही कहते हैं :—

वित्तवान् को हि लोकेऽस्मिन्निश्चितः कुत्रचिद् वसेत् ।
अपि स्वप्नेऽपि तस्यास्ति, भय राजादिजं महान् ॥

बेचारा धनवान् कही भी शान्ति से नही रह सकता। उसके लिए सारा ससार भय का स्थान है। जब जगता है तब भी उसे राजा आदि का डर लगा रहता है और जब सोता है, तब भी उसे भयभीत करने वाले स्वप्न आया करते है। इस प्रकार धन सदैव प्रत्येक दशा मे भय और बेचैनी ही उत्पन्न करता है। दूसरे विद्वान् ने कहा है—

जनयन्त्यर्जने दु:खं, तापयन्ति विपत्तिषु ।
मोहयन्ति च सम्पत्तौ, कथमर्थाः सुखावहाः ॥

इस विद्वान् की समझ मे ही नही आता कि धन सुखदायी किस प्रकार हो सकता है ! प्रथम तो धन का उपार्जन करना पडता है। उपार्जन किये बिना वह मिलता नही। और धनोपर्जन मे कितना दु ख होता है, यह बात आप भलीभाति जानते है। कभी-कभी तो धन के लिए प्राणो को भी सकट मे डालना पड़ता है। इस प्रकार की कठिनाई से धन कमा भी लिया तो वह सदा ठहरता

नही । मौका आते ही किसी बहाने खिसक जाता है । उस समय भी धनवान् को ऐसी वेदना होती है, जैसे प्राण चले गये हो । कहा जा सकता है कि जब तक धन रहता है, तब तक तो उससे सुख मिलता ही है ! पर अपनी मौजूदगी मे वह मनुष्य को मूढ़ बनाता है, चिन्तित रखता है । इस तरह किसी भी स्थिति मे वह सुख नही देता । फिर भी आश्चर्य है कि दुनिया धन को ही भगवान् समझ रही है ।

सज्जनो ! इस भौतिक धन के बदले यदि शास्त्रस्वाध्याय रूप धन का संचय करो तो आपका महान् कल्याण हो । यह धन कभी नष्ट नही होता और सम्यक्त्व की प्राप्ति कराता है । एक पद का अध्ययन करने वाला भी अनेक पदो को ग्रहण कर लेता है । अतएव सूत्रों का अध्ययन करके आत्मा का कल्याण करो ।

ब्यावर }
१२-६-५६ }

: ६ :

सम्यक्त्व की भूमिकाएँ

वीरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो वीरं बुधाः संश्रिताः,
वीरेणाभिहत' स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्यं नमः ।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं वीरस्य घोरं तपो,
वीरे श्रीधृतिकीर्तिकान्तिनिचय. हे वीर ! भद्रं दिश ॥

× × ×

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिता. सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकरा. पूज्या उपाध्यायकाः ।
श्रीसिद्धान्तसुपाठका मुनिवरा रत्नत्रयाराधकाः,
पञ्चैते परमेष्ठिन प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

उपस्थित सुज्ञ आत्माओ !

व्याख्यान का प्रधान विषय सम्यक्त्व है। सम्यग्दर्शन के विषय मे कई दिनो से विवेचन करता आ रहा हू। यह विषय वडा महत्त्वपूर्ण है, अतएव इस पर विस्तार से प्रकाश डाला जा रहा है। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष—ये नौ तत्त्व है। प्रत्येक मुमुक्षु के लिए इन तत्त्वो को जानना आवश्यक है, परन्तु इनका यथार्थ ज्ञान सम्यक्त्व पर ही निर्भर है। दर्शन शुद्ध है तो तत्त्वो का ज्ञान भी शुद्ध होगा। और

दर्शक अशुद्ध है तो तत्त्व ज्ञान भी अशुद्ध ही होता है। ज्ञान की अशुद्धता मे चारित्र शुद्ध हो ही कैसे सकता है ? जब चारित्र शुद्ध न होगा तो मुक्ति की प्राप्ति भी न हो सकेगी। इस प्रकार सम्यग्दर्शन ही समस्त कल्याण का मूल है।

इजिन सीधा चलता है तो डिब्बे भी सीधे चलते है और यदि इजिन मुडता है, बांका-टेढा चलता है, तो उससे सम्बन्धित डिब्बे भी टेढ़े-बाके ही चलते है। प्रत्यक्ष देखते है कि जिस ओर इंजिन की गति होती है, उसी ओर डिब्बो की भी गति होती है। इस प्रकार डिब्बो की सीधी या घुमावदार गति इजिन की गति पर निर्भर है। इजिन सुरक्षित है और ठीक तरह चल रहा है तो डिब्बे भी उसके पीछे ठीक तरह चलते है। यदि इंजिन नदी मे गिर जाता है या दूसरे इंजिन से टकरा जाता है अथवा पटरी से उतर जाता है तो उसके साथ डिब्बों की भी दुर्दशा होती है।

सम्यग्दर्शन भी इजिन के समान है। शेष सब धार्मिक क्रियाएं, अनुष्ठान और साधनाएं डिब्बो के समान है। जैसा दर्शन होगा, वैसी ही क्रियाए होगी। दर्शन रूपी इजिन यदि सीधी गति से आ रहा है तो क्रियाए भी सब सीधी ही चाल पर चलेगी। इजिन मे गडबड़ पड़ जायेगी तो डिब्बो की गति भी गड़बड मे पडे बिना नही रहेगी। सभी सम्यग् साधनाए सम्यग्दर्शन से साथ जुड़ी हुई है। अतएव सम्यग्दर्शन रूपी इजिन अगर उलटी गति मे चला जायेगा तो समस्त क्रियाएँ भी उल्टी हो जायेगी। उस हालत मे सभी क्रियाए मिथ्या होगी और वे भवभ्रमण का कारण होगी। उनसे मुक्ति नही मिल सकेगी। इजिन और डिब्बे अपने निश्चित लक्ष्य पर नही पहुच पायेगे। मिथ्यात्व की स्थिति मे क्रियाए मोक्ष मे साधक होने के बदले बाधक बन जाती है। वे मोक्षमार्ग को

अवरुद्ध करने के लिए चट्टान की भाति अडकर खड़ी हो जाती है और मनुष्य को मोक्ष की ओर आगे नही बढने देती। ऐसे जीव को ससार मे ही परिभ्रमण करना पडता है। वही क्रियाए मोक्ष की ओर आगे बढा सकती है जो सम्यग्दर्शन से सम्बद्ध होती है। इसी कारण मै आपको वार-वार चेतावनी दे रहा हू कि—हे भव्य जीवो! सम्यक्त्व प्राप्त करो, सम्यक्त्व को निर्मल बनाओ और सम्यक्त्व को मलीन करने वाले विचारो और कार्यों से बचो। सम्यग्दर्शन के विना आत्मा का काम चलने वाला नही है।

भगवान् ने आत्मा के विकास की अपेक्षा चौदह स्थितियाँ बतलाई है और ससार के समस्त प्राणी उन चौदह अवस्थाओ मे ही समाविष्ट हो जाते है। शास्त्रीय परिभाषा मे उन्हे चौदह गुण-स्थान कहते है। उनमे से प्रथम गुणस्थान मे सम्यक्त्व का अभाव होता है अथवा यो कहिये कि जब सम्यक्त्व का सर्वथा अभाव होता है, उस समय की जीव की स्थिति प्रथम गुणस्थान कहलाती है।

दूसरे गुणस्थान मे सम्यग्दर्शन होता तो है, परन्तु पतनोन्मुख होता है। बुझते हुए दीपक की धीमी-धीमी होती हुई लौ के समान होता है। जो प्रकाश अभी-अभी गुल होने वाला है, जो अवेरे को लेकर आ रहा है, जिसके पीछे अधकार खिचा हुआ चला आ रहा है, उस प्रकाश के समान है। दूसरे गुणस्थान वाला जीव शीघ्र ही प्रथम गुणस्थान मे पहुच जाता है। यह पतन की दशा का गुणस्थान है। उस समय जो सम्यक्त्व होता है, वह ऊपर से नीचे गिरने वाला है। जो जीव सम्यक्त्व की ऊचाई पर, शिखर पर और हिमालय की उच्च चोटी पर खडा था। वहाँ मिथ्यात्व रूपी सम्भावना का झोका लगा और उसी समय नीचे की ओर गिरने लगा। अभी वह जमीन पर नही पहुचा है—अधबीच मे है। इस

प्रकार चोटी से गिरने के पश्चात् और भूमि तक पहुचने से पहले, वीच की स्थिति है। यही सास्वादन गुणस्थान कहलाता है। इस गुणस्थान का जीव समकित से च्युत हो गया है, परन्तु मिथ्यात्व तक पहुंचा नही है —पहुचने की तैयारी मे है।

सज्जनो ! वायु मे कितनी प्रचण्ड शक्ति है ? इस वायु ने संम्पूर्ण पृथ्वी को अपने आधार पर टिका रक्खा है। परन्तु यह सव वाते शास्त्र को पढ़ने और सुनने से मालूम होती है। शास्त्रकारो ने कोई विपय अछूता नही छोडा है। आपकी वुद्धि नमदा-वुद्धि है। आप सुनते और भूल जाते हैं। नमदा का स्वभाव है कि उसके ऊपर पैर रक्खो तो वह दव जाता है और पैर हटाओ तो फिर उभर आता है। यानी उसे वैठते और उठते देर नही लगती। किन्तु थोडा-सा वोझ पड़ते ही जो दव जाता है, वह सख्त चीज़ ही क्या है !

तो वडी कठिनाई से जीव दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम या क्षयोपशम करके चौथो मज़िल (गुणस्थान) पर पहुचा है। उस ऊचे शिखर से वह विश्व के विमोहक दृश्य देख रहा है। आत्मा, परमात्मा, नरक, स्वर्ग आदि सभी चीजो का उसे ठीक-ठीक प्रतिभास होने लगा है। वह उस जगह पहुच कर अलौकिक आत्मानन्द को अनिर्वचनीय अनुभूति कर रहा है। सम्यक्त्व प्राप्त करके आत्मविभोर हो गया है। उसे ऐसा अनुभव हुआ है, जैसे भूखे को भोजन, प्यासे को पानी और भूले हुए को रास्ता मिल जाने पर होता है। उसके आह्लाद की कोई सीमा नही है।

आत्मा मे जव सम्यक्त्व का आविर्भाव होता है, तो आत्मा का सारा स्वरूप ही परिवर्तित हो जाता है। उस अवस्था का शव्द-

चित्र में कैसे आपके सामने रक्खूं ! वह तो गूंगे का गुड है। उसका रसास्वादन हो सकता है, कहा नही जा सकता। सम्यक्त्व की दशा मे आत्मा की निष्ठा, दृष्टि और सृष्टि ही कुछ और की और हो जाती है ! उसके जीवन का चित्र अनायास ही वदल जाता है।

इसके विपरीत, जव तक आत्मा मे सम्यग्दर्शन उत्पन्न नही होता, तव तक आनन्द का उद्रेक भी नही होता। दवा दो-चार घंटा अन्दर टिक जाये तो उसका असर मालूम होता है, मगर कभी-कभी उसका टिकना ही मुश्किल होता है। जी मिचलाने लगता है और वमन होकर दवा वाहर निकल जाती है तो उसका कुछ भी असर नही होता।

हां, जो जीव सम्यग्दर्शन पा लेता है, वह चौथी मजिल पर अर्थात् चतुर्थगुण स्थान मे महुच जाता है। वहाँ वह शिखर पर चढ कर आत्मीय नज़ारे देख रहा है। किन्तु वांगड़ से उठी हुई आंधी के तीव्र झोके ने उसे नीचे गिरा दिया। सज्जनो ! रेत की वह काली-पीली आंधी भी क्या गजव ढाती है, उसका प्रत्यक्ष नजारा अव भी मेरी आंखो के सामने तैर रहा है। मै दिल्ली के निकट लुहारा सराय नामक नगर मे गुरु महाराज के साथ था। करीब पाच वजे सन्ध्या के समय की वात है। ऐसी जोर की आंधी आई कि उसने दिन को भी रात वना दिया। रात्रि मे दीपक, लालटेन और गैस के प्रकाश से दीख जाता है, किन्तु उस आधी मे उपरोक्त सारे प्रकाश वकार सिद्ध हुए। उस अधड़ मे दिनकर का प्रकाश विलकुल धुंधला पड़ गया और यही मालूम न होता था कि सूर्य कहा है और कहां नही है। स्वयं का हाथ तक नज़र नही आता था। सैकड़ो पशु रास्ता न मिलने से कुओ मे गिर-गिर कर मर गये।

पक्षियो की तो बात मत पूछिये। उनके लिए जैसे प्रलयकाल उपस्थित हो गया। यहा तक की मनुष्यो की भी मृत्यु तक की नौबत आ पहुची। उस रोज की आधी ने रात को भी मात कर दिया। जहा अभी-अभी प्रकाश था, वहा क्षण भर मे अधेरा ही अधेरा चारो ओर व्याप्त हो गया। पशु, पक्षी मनुष्य आदि अभी-अभी दृष्टिगोचर हो रहे थे, किन्तु देखते ही देखते अचानक 'तमोभूतमिद जगत्'हो गया, अर्थात् सारी सृष्टि अन्धकारमय हो गई।

उस आधी की एक विशेपता तो यह थी कि उसने शब्द श्रुति को भी रोक दिया था। कोई किसी को आवाज़ दे तो वह भी ठीक सुनाई नही देती थो। उस आधी ने गजब ढा दिया। उससे हजारो पशुओ ओर मनुष्यो को हानि पहुची।

सज्जनो ! जब द्रव्य-आधी ने भी ऐसा प्रलय मचा दिया तो जहा मिथ्यात्व की आधो उठे वहा आत्मिक धन की अपार हानि होना स्वाभाविक ही है। आत्मा की ज्योति का नष्ट हो जाना और अज्ञानान्धकार छा जाना भी स्वाभाविक है। मिथ्यात्व की इस भाव-आधी मे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय जीवो का तो कहना ही क्या है, चार ज्ञान और चौदह पूर्व के पाठी भी, जो सूर्य के समान होते है, उनका भी प्रकाश फेल हो जाता है और वे भी अपने पद मे भ्रष्ट हो जाते है। साधारण प्राणियों का तो कहना ही क्या है ? सूर्य के समान दिव्य प्रकाश जिनके ज्ञान का होता है, उनके प्रकाश को भी बुझते देर नही लगती

इस प्रकार सम्यक्त्व की प्राप्ति और रक्षा होना मामूली बात नही है। उसकी प्राप्ति के लिए बड़ी तैयारिया करनी पडती है और कदाचित् प्राप्त हो जाये तो रक्षा के लिए भी सतर्क और सावधान रहना पड़ता है।

सतर्कता मे तनिक कमी हुई कि प्राप्त सम्यक्त्व के चले जाने मे देरी नही लगती । सम्यक्त्व प्राप्त होने पर मनुष्य उन्नति के शिखर पर आरूढ हो जाता है, परन्तु मिथ्यात्व रूपी वायु का झोका लगता है तो वह उस शिखर से नीचे आने लगता है ।

चतुर्थ गुणस्थानवर्त्ती जीव ने दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय, उपशम या क्षयोपशम किया । इस कारण उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति तो हो गई । परंतु चारित्रमोहनीय का क्षयोपक्षम आदि न होने के कारण इस गुणस्थान वाले को चरित्र की प्राप्ति नही होती । यह स्वाभाविक ही है । जिस-जिस वस्तु के दाम दिये जाते है, वही बाजार से खरीदी जा सकती है । दूसरी वस्तु कैसे मिल सकती है ?

तो दूसरा गुणस्थान पडिवाई का होता है । जो जीव चौथे गुणस्थान से गिर गया है और पहले तक पहुचा नही है, इस बीच की अवस्था का नाम ही सासादन या सास्वादन गुणस्थान है । जैसे एक फल वृक्ष से टूट गया पर जमीन तक नही पहुचा—अधबीच मे होता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व और मिथ्यात्व की अधबीच की अवस्था ही सास्वादन गुणस्थान कहलाती है । उदाहरणार्थ—किसी ने खीर-खाण्ड का भोजन किया । पित्त का प्रकोप होने से वह वमन होकर निकल गया । परन्तु जब ओठो पर जीभ फेरता है तो अब भी उसका थोड़ा-सा स्वाद आता है । हा, तो-चार बार जीभ फेरने के पश्चात् वह भी मिट जाता है । इसी प्रकार जो व्यक्ति चौथे गुणस्थान मे सम्यक्त्व रूपी खीर-खाण्ड का भोजन कर चुका था, वह उस सम्यक्त्व का वमन कर चुका है । उसे अब पहले जैसा स्वाद नही आ रहा है । उसके मिथ्यात्व का जोर बढता जा रहा है । वह निश्चित रूप से मिथ्यात्व की स्थिति मे पहुचेगा ।

कदाचित् चौथे गुणस्थान से जीव नही गिरता है तो उसका सम्यक्त्व बढता जाता है—विशुद्ध होता जाता है और क्रमशः विशुद्धतर और विशुद्धतम होता जाता है। क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर आत्मा का पालन सदा के लिए रुक जाता है। क्षायिक सम्यक्त्व आत्मा को ऊर्ध्वगामी बनाता है। वह मोक्ष प्रदान करने वाला है।

इस प्रकार चौथा गुणस्थान अविरत सम्यग्दृष्टि का है। पर उसे प्राप्त करने के लिए भी भारी साधनो की आवश्यकता है। साधन के बिना कोई साध्य प्राप्त नही होता। सम्यक्त्व की स्थिति या चौथा गुणस्थान प्राप्त करने के पहले पाच लब्धिया प्राप्त करनी पड़ती है। अर्थात् जिसे माल लेना है, उसे पहले पॉकिट में दाम लेने होगे। बिना दाम माल नही मिलेगा। दाम लिये बिना चले गये और दूकानदार से कहा—माल दे दो साहब ! उसने कहा—लीजिये साहब, जो पसंद हो ले लीजिये। इसके दाम इतने और उसके दाम इतने लगेगे। यदि उस समय आप कहेगे—दाम तो नही है साहब! तो दूकानदार साफ कह देगा—तशरीफ ले जाइये साहब ! पैसो के बिना माल नही मिलता।

सज्जनो ! यहा तो लिहाज से, शर्म से या दबाव से उधार भी मिल जाता है। कितने ही अफसर लोग रिश्वतखोरी मे भी माल ले जाते है। परन्तु दाम दिये बिना माल लेना शिष्टाचार नही है। इस हाथ देना और उस हाथ लेना ही शिष्टाचार का तकाज़ा है।

तो बाजार मे जाओगे तो पहले दामो की आवश्यकता होगी। इसी प्रकार सम्यक्त्व रूपी रत्न खरीदने के लिए भी बहुत मूल्य चुकाना पड़ता है। वहां किसी के लिहाज से काम नही चलता और

न किसी का रौब-दाव ही काम आता है। सम्यक्त्व रूपी रत्न तो कीमत चुकाने पर ही मिलेगा। वह कीमत है पाच लब्धियां। बस, दाम दो और माल लो। माल की कमी नही है, कमी है तो दामो की है। नकदी का सौदा है। तो जो पाच लब्धि रूपी कीमत चुका सकता है, वही सम्यक्त्व रूपी महामूल्य मणि खरीद सकता है। जो नगमनगा है, वह बाजार मे जेवर, कपडे, मिठाई, फल आदि तरह-तरह की वस्तुए देख रहा है और लेना भी चाहता है, किन्तु दाम के अभाव मे कुछ भी नही ले सकता। लेने का प्रयत्न करता है तो दुतकारा जाता है। अलबत्ता उसे वह चीजे मिल सकती है जो सडी-गली समझ कर सडक के किनारे फेक दी जाती है। वह मिथ्यात्व रूपी सडी चीज पा सकता है।

किसान खेत मे वीज डालने से पूर्व जमीन को तैयार करता है। यह आवश्यक है, जमीन ही तैयार न होगी तो वीज कैसे वोयेगा? वोयेगा तो कैसे उगेगा ?

रगने से पहले कपड़े को धोना पडता है। कुश्ती लडने से पहले पहलवान को अखाड़ा तैयार करना पडता है। न करे तो हाथ-पैर टूट जाये। इसी प्रकार मकान वनाने से पूर्व उसका नक्शा वनवाना आवश्यक है। इसी प्रकार सम्यक्त्व प्राप्त करने से पहले भी शुद्धि करनी पडती है। भूमिकाशुद्धि के विना कार्य नही होता।

चौथे गुणस्थान की प्राप्ति पाच लब्धियो वाले को ही होती है वे पांच लब्धिया इस प्रकार है—(१) क्षयोपशम लब्धि, (२) विशुद्ध लब्धि, (३) देशना लब्धि (४) प्रयोग लब्धि और (५) करण लब्धि।

(१) क्षयोपशम लब्धि—आठ कर्मो का जो रस है, फल है, परिणाम है, विपाक है, नतीजा या असर है, उसका मन्द होकर

उदय मे आना क्षयोपशम लब्धि है। जहां रस की तीव्रता होती है, वहां चौथे गुणस्थान की प्राप्ति नही होती। मदिरा मे अगर तेज मादकता है, विस्फोटक नशीला परिमाण है, तो उसे पीकर मनुष्य भान भूल जाता है और ज्यो-ज्यो नशा कम होता जाता है, बुद्धि निखरती जाती है। वस्तुस्थिति का भान बढता जाता है और वह समझने लगता है कि यह मेरी माता है और यह मेरी बहिन, पुत्री या पत्नी है। मगर शराब का रस जब तीव्र होता है तो, मैंने स्वयं देखा है कि, मनुष्य अपने माता, पिता, बहिन, भाई आदि के सामने भी नगा हो जाता है। इसी प्रकार कर्म रस की तीव्रता में बेभान हुआ जीव सम्यक्त्व प्राप्त नही कर सकता। अतएव सम्यक्त्व प्राप्त करने के लिए कर्मो के तीव्र रस को मन्द करना पड़ता है।

तेज शराब मे एक लोटा पानी डाल दो तो नशा कम हो जाता है। दूसरा लोटा डालने से और भी कम हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा में ज्यो-ज्यों विवेक रूपी पानी डाला जायेगा, त्यो-त्यो कर्मो का रस मन्द और मन्दतर होता जायेगा। इस प्रकार कर्मो के रस का मंद हो जाना क्षयोपशम लब्धि है।

(२) विशुद्ध लब्धि—दूसरी लब्धि विशुद्ध लब्धि है। पहली लब्धि प्राप्त होने पर आत्मा मे एक प्रकार की अव्यक्त-सी ज्योति जागती है। किंचित् विशुद्ध भाव उभरने लगते है। इस विशुद्ध के कारण सातावेदनीय की प्राप्ति है। असातावेदनीय के कारण जीव पहले आकुल-व्याकुल हो रहा था। पहली लब्धि मे कर्म-रस को मन्द करने के कारण वह व्याकुलता कम हो गई और सतावेदनीय का अनुभव होने लगा। उसे अब यत्र-तत्र सातावेदनीय के कण बिखरे मालूम होते हैं। कदम-कदम पर आनन्द का ही वातावरण

फैला होता है । इस प्रकार जव सातावेदनीय मे साता मिलती है तो आत्मा मे विशुद्ध भाव उत्पन्न होते है। धर्म के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है। असाता की स्थिति मे देव, गुरु और धर्म, सभी कुछ विस्मृत-सा हो जाता है।

जीद नगर की वात है कि हमारे चातुर्मास मे वहाँ के भाइयो ने पौपध आदि तपस्या कर रक्खी थी। उन दिनों तपस्वी श्री निहाल चद महाराज की हासी शहर मे ४० दिनो की तपस्या चल रही थी। उस समय जीद मे एक सेठ जी ने भी वेला किया था। शाम के समय जव उन्हे जोर पडा तो हमसे कहने लगे—धन्य है तपस्वीजी महाराज, जिन्होंने चालीस दिनो की तपस्या की है ! दूसरे दिन उन्ही सेठ ने दया (छ काया) व्रत किया जिसमे पाप क्रियाओ का त्याग होता है किन्तु पवित्र भोजन खा सकता है। रात को उस सेठ को खूव गहरी नीद आई। तव मैंने कहा—लालाजी, आज तपस्वी जी की याद नही आई ?

लालाजी वोले—आज लेटरवौक्स भरा हुआ है। तपस्वी जी तो भूख मे याद आये थे। कहा भी है —

दुख मे सुमिरन सव करें, सुख में करे न कोय।
जो सुख में सुमिरन करे, दुख काहे को होय ? ॥

जव दुख आता है तो अगले-पिछले सभी देवता, गुरु, पूज्यजी महाराज, शान्तिनाथ भगवान् और गुरुनी जी की याद आ जाती है और जव दु.ख निकलता जाता है तो फिर कोई याद यही आता। सुख के समय धर्म भी भूल जाता है। हा, कोई माई का लाल होता है जो सुख मे भी देव, गुरु और धर्म को याद रखता है।

तो पहली लब्धि से सातावेदनीय प्रकट होता है और उससे आत्मा को शान्ति एवं राहत मिलती है। धर्म के प्रति प्रीति का

भाव उत्पन्न होता है और फिर गुरु, देव और धर्म के प्रति श्रद्धा भी होने लगती है।

दुखी जीव अपने दुःख से ही फुर्सत नही पाता। कोई उच्च कोटि का साधक ही दुःख पड़ने पर धर्म का स्मरण करता है, अन्यथा सब प्रायः पथभ्रष्ट हो जाते है।

हा, तो अन्तरात्मा मे धर्म का राग उत्पन्न होता है। धर्म उसे प्रिय लगने लगता है, धर्मी पुरुष भी प्रिय लगते है और धर्म की बात सुनकर और धर्मकार्य देख कर उसका हृदय गदगद हो जाता है। यह विशुद्ध लब्धि है। सम्यक्त्व प्राप्ति के लिए यह भी आवश्यक है।

(३) देशनालब्धि—तीसरी देशनालब्धि है। कथन करना, बोलना या उपदेश देना देशनालब्धि है।

जब जीव दूसरी लब्धि प्राप्त कर लेता है तो उसकी आत्मा काफी पवित्र हो जाती है।

बहिनो! शायद यह आध्यात्मिक कथन आपकी समझ मे न आ रहा हो, फिर भी आपके लिए यह हितकारक ही है। गारुड़ी मत्रवादी जिसे सर्प ने काटा हो उसे मंत्र सुनाता है। वह मंत्र के शब्दो को समझ नही सकता; तथापि मत्र उसके जहर को उतार देता है। उसी प्रकार श्रद्धापूर्वक यह कथन सुनने से आपका भी मिथ्यात्व रूपी जहर उतरेगा।

धर्मानुराग श्रेष्ठ राग है। यह आत्मा को प्रशस्त रग मे रंग देता है और कृतकृत्य बना देता है। और-और रग तो अनेक बार चढ़ चुके है, परन्तु उनसे आत्मा का कुछ कल्याण नही हुआ। धर्म का रग एक बार भी पूरी तरह चढ़ जाता है तो निहाल कर देता

है। मगर इस रंग का चढना ही कठिन है। धर्मराग वीतरागता की ओर ले जाता है। फिर भी वहुत सारे लालवुझक्कड़ो ने, हठाग्रहियो और दुराग्रहियो ने सव प्रकार के रोगो को एक ही रूप दे दिया है। चोर और साहूकार को एक ही पंक्ति मे खड़ा कर दिया है।

सज्जनो ! धर्मराग प्रशस्त है, प्रशंसनीय है। धर्मराग आये विना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नही होती। जिसके अन्तःकरण मे धर्म के प्रति उपेक्षा है, उदासीनता है, उसे धर्म की और सम्यक्त्व की प्राप्ति नही हो सकती। धर्मराग सम्यक्त्व की प्राप्ति का कारण है और सम्यक्त्व कार्य है।

कहा जा सकता है कि हम तो गेहूं आटा आदि को कोई महत्त्व नही देते, वनी-वनाई रोटी को ही मानते है। परन्तु रोटी आती कहां से है ? क्या वनी-वनाई रोटी आकाश से टपक पडती है ? नही ! जो रोटी को मानता है उसे जमीन, वरतन, चकलौटा, चूल्हा, तवा ,रसोइया आदि कारणो को भी मानना चाहिए; क्योकि यह सभी रोटी वनाने मे निमित्त होते है, सहायक वनते हैं और इनकी सहायता के विना रोटी नही बन सकती। हा, यह वात अलग है कि सव पदार्थ अपने-अपने स्थान पर है। रोटी तैयार होने में किसका कितना हिस्सा है, यह विवेक किया जा सकता है। किन्तु इनमे से किसी वस्तु से इन्कार करना मिथ्यात्व है। इनको माने विना व्यवहार भी तो नही चल सकता।

आशय यह है कि पहले धर्म के साधन जुटाने पड़ते है। वीज वोने से पहले जमीन जोत-जोत कर मुलायम करती पडती है।

स्यालकोट मे मेरा चौमासा था। वहा की जैन विरादरी वहुत वड़ी थी। वहा के लोगो ने विचार किया कि इस वर्तमान धर्म स्थानक से हमारा काम नही चलता। इसमे हम जैन लोग ही

अगर खड़े-खडे भी सब व्याख्यान सुनना चाहे तो नही समा सकते। तो फिर अजैन भाइयो को जिनवाणी का लाभ किस प्रकार पहुचा सकते है ? यह सब सोचना, उसका उपाय करना और अपनी तकलीफ रफा करना गृहस्थो का काम है। जिसे व्यापार वढाना है, फैलाना है, उसे माल रखने के लिए दूकान भी वड़ी चाहिए। अगर परिवार वड़ा है तो रहने को मकान भी वड़ा होना चाहिए। व्यापारी अपना व्यापार तो वढाना चाहता है, मगर दूकान नही वडाना चाहता तो उसका व्यापार भी हर्गिज नही वढ सकता।

मगर कुछ लोग ऐसे सकीर्ण विचार वाले है कि उन्होने समाज के विकास पर ताला ही लगा रक्खा है। सज्जनो ! साधु का और श्रावको का क्षेत्र अलग-अलग है। उधर हमारा गुरुवर्ग धर्म की उन्नति चाहता है और वे श्रावक लोग व्यापार वढाकर करोडपति वनना चाहते हैं। किन्तु अपनी खुड्डी मे से वाहर निकलना नही चाहते। वे माल कहां रक्खेगे ? तो यह सर्वविदित है कि जिसे दूकानदारी से महान् लाभ प्राप्त करने की इच्छा है, उसे दूकान की विशालता का भी उपाय करना होगा। व्यापार वढता जाये और दूकान छोटी ही वनी रहे तो वाहर पड़ा माल वकरिया आदि पशु खा जायेंगे। कुत्ते उस पर मूत्र कर जायेगे या वर्षा आदि से माल खराव हो जायेगा।

व्यावर वालो ! आप वहुत होशियार है। आपने ऊन रखने रखने लिए वडे-वडे गोदाम वना रक्खे है। किन्तु इस धर्म रूपी माल को कहा रक्खोगे ? इसे संभालने के लिए भी वड़े-वड़े साधनो की आवश्यकता है।

मैं भी किसी सस्कृति का पुजारी हू और एक दृष्टि से रूढिवादी भी हू; मगर सड़ी-गली रूढ़ियो का पुजारी नही हूं। जो रूढ़ियां

धर्म एव समाज की पोषक है, उन्हे तो संभाल कर सुरिक्षत रूप से रखना ही चाहिए । किन्तु जो आज के समय मे निष्प्रयोजन है, हानिकारक है, समय के साथ जिनका मेल नही है, जो लोगो को परेशानी पैदा कर रही है और जिनसे सम्यक्त्व का घात होता है, उन्हें जल्दी से जल्दी दफना देना ही उचित है। कौन बुद्धिमान् होगा जो मुर्दे को घर मे सभाल कर रखना चाहेगा ? उसे घर मे रखना दूसरो को मारना है, क्योकि उससे वायुमडल गदा होता है। इसी प्रकार जिन रूढियो मे कोई जान नही है, तथ्य नही है उनको त्याग देना ही श्रेयस्कर है।

सज्जनो ! मै जो कह रहा हूं। आपको जचता है या नही ? (एक आवाज–किसी को भी नही जचता होगा।)

ठीक है, जिसे मृगी की बीमारी होती है, उसे पानी देखते ही मृगी का दौरा हो जाता है। उसे पानी ठीक नही लगता। मगर उसे ठीक लगे या न लगे, पानी तो ठाठे मारता ही रहेगा।

तो मै कह रहा था कि आप व्यापार बढाना चाहते है किन्तु दूकान छोटी रखना चाहते है ; तो व्यापार कैसे बढ सकता है ? दूकानदार को व्यापार बढाने के लिए दूकान बढानी पडती है। इसी प्रकार आप यह चाहते है कि अधिक से अधिक जैन और जैनेतर भाई-बहिन व्याख्यान से लाभ उठावे और आप धर्म-व्यापार बढाना चाहते है और धर्म-दलाली भी कमाना चाहते है, मगर दलाली तो उतनी ही मिल सकेगी जितना माल होगा।

साधु और गृहस्थ का मार्ग अलग-अलग है। यहां के एक भाई ने मेरे से प्रश्न किया था—गृहस्थो ने पंडाल बनाया तो साधु उसमे बैठ सकते है या नही ?

मैंने पूछा—वह किसके लिए बनाया गया है ? साधु के लिए बनाया है या श्रावकों के बैठने के लिए ? अगर उन्होंने अपने लिए बनाया है, अपनी सहूलियत के वास्ते बनाया है तो साधु को वहां बैठने मे कोई आपत्ति नही। जैसे गृहस्थ ने अपने रहने के लिए मकान बनाया है, वैसे ही व्याख्यान सुनने के लिए पडाल बनाया है।

मै आप से पूछता हूं—व्याख्यान आपको सुनना है अथवा साधु को सुनना है ?

'हमे सुनना है।'

तो फिर साधु को उसमे बैठने मे क्या आपत्ति है ? उदाहरणार्थ—सवत्सरी के दिन आप लोगो ने अपने पौषध के लिए छत पर पाल बाधा। वह आपने अपने सुभीते के लिए बाधा। ऐसी स्थिति मे आपकी आज्ञा प्राप्त करके यदि उसके नीचे बैठ जाये या शयन करे तो हमे कोई दोष नही लग सकता। हां, साधु अगर गृहस्थ सबधी कार्यो मे कोई दखल देता है तो वह दोष का भागी होता है।

मै आपसे यह भी पूछना चाहूगा कि ऐसी कौन-सी जगह है, या महाविदेह क्षेत्र की बानगी का कौन-सा साधु है, जहा श्रोताओ के बैठने के लिए स्थान नही बनाया जाता हो और साधु वहा न बैठता हो ? आप अपने सुनने के लिए पडाल भी बनाते हो, दीवार तोड़कर मैदान भी करते हो और छप्पर भी डालते हो। जिन साधुओ के व्याख्यान सुनने को कम श्रोता आते है, अतएव व्यवस्था भी कम कम करनी पड़ती है, मगर बड़े साधुओ का व्याख्यान सुनने के लिए अधिक श्रोताओ के योग्य ज्यादा व्यवस्था करनी पड़ती है। फिर भी आश्चर्य है कि जो काम एक वक्त वे स्वयं

करते है, उसी के लिए दूसरे अवसर पर वे नुक्ताचीनी किये बिना नही रहते। यह उचित नही है।

अभिप्राय यह है कि प्रत्येक चीज़ को एक ही गज से नही नापना चाहिए। साधु की और गृहस्थ की क्रिया मे अन्तर है। आप गृहस्थो को धर्मप्रभावना के निमित्त क्या-क्या क्रियाए करनी पडती है! आप स्वधर्मियो को सहायता के रूप मे द्रव्यदान भी देना पड़ता है। भोजन-व्यवस्था भी करनी पडती है और धार्मिक पाठशालाए भी चलानी पडती है। अगर साधु धर्मोन्नति के इन कार्यो मे अन्तराय डालता है तो वह उन्हे अधार्मिक बनाने का प्रयत्न करता है। आखिर वे स्वधर्मी किस मर्ज की दवा है जो स्वधर्मी के काम नही आते? तो साधु का मार्ग अगर रेल के चीले के समान है तो श्रावक का मार्ग मोटर का रास्ता है। दोनो के मार्ग एक नही हो सकते। जहा दोनो मार्ग एक हो जाते है, वहां चौराहे पर दुर्घटना होने की सभावना रहती है। वहा रेल और मोटर की टक्कर भी हो सकती है। मगर हम में से कई ड्राइवर दोनो के मार्ग को एक ही कर देना चाहते है। अरे, बेचारी सवारियो को सही-सलामत ठिकाने पहुच जाने दो, अन्यथा उनके कुटुम्बी जन ड्राइवर का नाम ले-लेकर छाती कूटेगे और ड्राइवर के नाम पर रोयेगे।

सज्जनो! सोचो, विचारो, किस भ्रान्ति मे पडे हो? साधु को समकित की पुष्टि के लिए, सस्कृत की रक्षा के लिए, बच्चो को सुसस्कारी बनाने के लिए, समाज को धर्मशील बनाने के लिए तथा इसी प्रकार के अन्यान्य श्रेयोभूत उद्देश्यो को सफल बनाने के लिए उपदेश देना पड़ता है। जब वह समाज मे रहता है तो समाज

और धर्म की रक्षा के लिए उसे उपदेश देना ही होगा। और गृहस्थों को कर्त्तव्य का भान भी कराना होगा, हा जगल मे जाकर बसेरा कर ले तो बात दूसरी है।

मान लीजिए किसी साधु ने बच्चो को मिथ्यात्व के मार्ग से हटाने के लिए और अपनी सस्कृति पर कायम रखने के लिए या धर्मशिक्षण के लिए उपदेश दिया। उपदेश सुनकर गृहस्थ धर्मशिक्षा की व्यवस्था करेंगे तो बच्चो के बैठने आदि की भी कोई व्यवस्था करनी पड़ेगी। पानी और पुस्तको आदि की भी सुविधा करनी होगी। अध्यापक भी नियुक्त करना होगा। ऐसा तो नही होगा कि बच्चो को बिना सुरक्षित स्थान के जगल मे बिना पुस्तक आदि के, यो ही बैठा दिया जायेगा। हाँ, साधु का काम केवल मार्ग दिखलाना है, उस व्यवस्था मे हस्तक्षेप करना नही है

गृहस्थ गृहस्थ है, साधु नही है। वह साधु होता तो गृहस्थ ही क्यो कहलाता ? गृहस्थ अपनी मर्यादा के अनुसार काम करेगा और साधु अपने नियम के अनुसार। साधु को गृहस्थ के कार्यो के बीच मे चौधरी बनने की आवश्यकता नही है।

तो मै कह रहा था कि विशुद्धिलब्धि होने पर धर्मराग होता है। परन्तु आज धर्मराग को विकृत रूप देने वालो ने धर्मराग और पापराग एक ही बना दिया है। वह अपनी भूल को भूल और गलती को गलती नही मानते, परन्तु दूसरे की गलती ही उनको नजर आती है अपनी नही।

प्राय. मानव मात्र गलतियो का पुतला है। कौन प्रामाणिकता के साथ दावा कर सकता है कि उससे कभी भूल नही होती ? कौन छद्मस्थ दूध का धुला है ? भूल सब से होती है, मुझ से भी हो सकती है।

मैं स्पष्ट शब्दो मे कहूगा कि जिन्होने पापराग और धर्मराग को एकमेक कर दिया है, वे जैनाभास है, जैन नही। देवराग, गुरुराग और धर्मराग शुभ है और जीवन को ऊचा उठाने वाले है। कामराग और स्नेहराग आदि जीवन को नीचा गिराने वाले है।

सज्जनो ! छत छत है और जमीन जमीन है । ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा जो छत को जमीन और जमीन को छत कहने का दुस्साहस करे ? हा, जिसकी बुद्धि मे विकृति आ गई है, वह दोनो को एक कह सकता है और कुछ उल्टी खोपडी वाले शायद उनकी हां मे हां मिलाने को भी मिल जायेगे, जिनकी बुद्धि दिवालिया बैंक मे पहले ही जमा हो चुकी है। उन्होने तो जीवदया को भी पापराग मे शामिल कर लिया है।

शास्त्रकार कहते है कि गृहस्थ का और साधु का मार्ग अलग-अलग है। अगर आप लोग सारी क्रियाए हमारी ही करने लग जाओ तो हममे और आप मे फर्क ही क्या रहा ? मगर नही, मै पाट पर बैठा हूं और आप लोग नीचे बैठे है। यही चीज़ इस बात की पुष्टि करती है कि आपकी भूमिका और साधु को भूमिका भिन्न है,आपके जीवन-सम्बन्धी कार्यकलाप अलग है और हमारे सयम के नियम अलग है। जो धर्मराग और कामादि पापराग को एक ही रूप देते हैं अर्थात् दोनो को पाप राग बतलाते है, उन्हे वास्तव मे विशुद्धि-लब्धि प्राप्त नही हुई है।

हां, तो जब जीव को विशुद्धिलब्धि की प्राप्ति होती है, तब आत्मा मे ज्योति जागती है और उसकी अभिरुचि धर्म की ओर होती है। उसकी आत्मा धर्मकार्यो को और धर्मी पुरुषो को देख कर प्रसन्न होती है। यदि एक प्याला भी धर्मराग दे जाये तो आत्मा को सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है।

लोग सम्यग्दृष्टि होने का दावा तो करते है,किंतु वास्तव में उनमें सम्यक्त्व है या नही, यह तो ज्ञानी ही जानें। हा तो मैं स्यालकोट की वात कह रहा था। वहां की विरादरी वड़ी थी । धर्म-स्थानक वहा का छोटा होने के कारण विरादरी ने एक वहुत वड़ा पंडाल वनाया और चार महीनो तक उसमें व्याख्यान होता रहा । आवा-गमन के केन्द्र में पडाल होने से हजारो अजैनो ने भी उपदेश सुनने का लाभ उठाया। परिणाम यह हुआ कि वहुत से मुसलमानो और सिक्खों ने भी मास-मदिरा-सेवन का परित्याग किया। वे 'वेजीटेरियन सोसाइटी' के सदस्य वने और कइयो ने और भी कई प्रकार के त्याग अगीकार किये। जैन धर्म के प्रति उनकी श्रद्धा वढी।

कहने का आशय यह है कि जव झोपड़ी मे से निकल कर मैदान में आये, तभी तो धर्मोपकार का कार्य हुआ। स्यालकोट के कोने-कोने में धर्म की लहर फैली और वड़े-वड़े पापियो के जीवन सुधरे। सकीर्ण दायरे मे वंद रहने से धर्म नही फैल सकता।

साधु साधु है और श्रावक श्रावक की जगह है। एक दूसरे के आचार में भेलसेल करने से हानि होती है। इसी प्रकार धर्मराग, धर्मराग ही है, पापराग नही है। धर्मराग को भी पापराग मे सम्मि-लित कर दिया जाये तो सभी साधु भी पापी कहलाने लगेंगे।

आपको मालूम है कि राग कौन-से गुणस्थान तक विद्यमान रहता है ? अन्त के तीन गुणस्थान क्षीण-राग अवस्था के है और ग्यारहवा गुणस्थान उपशान्तराग अवस्था का है। शेष प्रथम से लेकर दसवें गुणस्थान तक राग रहता है। यदि राग एकान्त पाप रूप ही है तो दशम गुणस्थान तक के मुनि भी पापी माने जायेंगे। ऐसा मानने से गजव हो जायेगा। क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ महान् मुनियो को भी पापी कहना घोर पाप की वात होगी।

किन्तु धर्मराग पाप नही है। वह धर्मराग तभी प्राप्त होता है, जबकि विशुद्धिलब्धि प्राप्त हो जाती है। यहा एक बात ध्यान मे रखनी चाहिए। शुभ धर्मराग हो, गुरुराग हो, किन्तु मतराग नही होना चाहिए और किसी खास व्यक्ति से राग नही होना चाहिए, सिर्फ व्यक्ति के गुणो के प्रति राग होना चाहिए। यह नही कि अपना गुरु चाहे प्रकट रूप मे दुराचारी, आचारभ्रष्ट और दोषी हो, किन्तु वह अपने सम्प्रदाय का है, इस कारण श्रेष्ठ है और वही पूज्य गुरु है और उसी को मानना चाहिए! ऐसा सोचना पक्षपात है, धर्मान्धता है और अधर्म है। ऐसा करना धर्मराग नही, पापराग है। वस्तुत. हमारे यहा व्यक्ति का महत्त्व नही, व्यक्ति के गुणो का महत्त्व है। भक्त ने भगवान् से यही प्रार्थना तो की है :—

ऊच-नीच का भेद न मानूं,
गुण पूजा का महत्त्व पहिचानूं।
व्यक्ति न व्योम चढाऊ,
भगवान् तुम्हारा अब मै सच्चा भक्त बन जाऊं।

और फिर सम्यग्दृष्टि की भावना व्यक्त की गई है—

प्राणिमात्र को अपना भाई,
मानूं मै, सबकी चाहूं भलाई।
सेवा ही मंत्र बनाऊं॥ भग० ॥

भद्र पुरुषो! माताओ और बहिनो! यह विशुद्धिलब्धि के प्रभाव से अन्तर्मन में उठी हुई लहर है। वह कहता है, हे प्रभो! दुनिया के लोग जिन बाहरी बातो से ऊचे-नीचे की कल्पना करते है, वह मेरे मन मे न आवे, क्योकि जाति से न कोई ऊचा है और न नीचा है। इसी प्रकार धन या कुल से भी कोई ऊचा-नीचा नही होता। उच्चता और नीचता सद्गुणो और दुर्गुणो से होती है।

अतएव मेरे हृदय मे गुणपूजा के लिए स्थान है, व्यक्तिपूजा के लिए नही। मेरा हृदय रूपी मन्दिर ऐसा अपवित्र स्थान नहीं, जहां कूड़ा-कचरा डाला जाये। वहा तो नाना प्रकार के गुण रूपी पुष्प सजाये जाते हैं। हां, हृदय और मस्तिष्क मे स्थान दूगा अवश्य, किन्तु गुणो को दूगा—हाड-मास के पीजरे को नही। शरीर पवित्र नही है, सड़ने-गलने वाला है, किन्तु गुण गलने वाले नही, सडने वाले और नष्ट होने वाले भी नही है। जो व्यक्ति के पुजारी है, समझो वे हाड-मास के पुतले के पुजारी है, चमड़े के पुजारी है और जो गुणो के पुजारी है, वे सदाचार के, दर्शन के और ज्ञान के पुजारी है।

हमारे जीवन मे धर्मराग आना ही चाहिए और गुणो के प्रति प्रीति उपजनी ही चाहिए। इसके विना जीवन का उत्कर्ष नही होता। भगवान् ने स्वयं वतलाया है कि आनन्द आदि अनेक श्रावक ऐसे थे कि उनकी हड्डी-हड्डी, मीजी-मीजी में धर्मानुराग समाया हुआ था। देवताओं ने उन्हे कितने ही उपसर्ग दिये और धर्म से च्युत करने का प्रयत्न किया, फिर उनका धर्मानुराग कम नही हुआ। भगवान् ने अपने श्रीमुख से उनके धर्मानुराग की प्रशसा की। जो धर्मराग को ही पाप वतलाते है, उनके भगवान् कोई दूसरे होगे! मगर माना तो उन्होने भी भगवान् महावीर को है। ऐसी स्थिति में उन्ही के सिद्धान्त के विरुद्ध प्ररूपणा करना उचित नही।

हा, यह ठीक है कि धर्मराग भी छोड़ने योग्य है, परन्तु किस स्थिति मे क्या छोडने योग्य होता है, यह विवेक होना आवश्यक है। जिसे यह विवेक नही, वह अपना अकल्याण कर वैठता है। जो मझधार मे नौका छोड़ देगा, वह डूब जायेगा। नौका तो किनारे

पहुंच कर ही छोड़नी चाहिए। जीव जब बारहवे गुणस्थान मे पहुंचता है तो धर्मराग स्वत छूट जाता है।

अभिप्राय यह है कि जीव जब दूसरी लब्धि प्राप्त करता है, तब उसका धर्म की ओर झुकाव होता है।

तीसरी देशनालब्धि है। आत्मा निखर जाने पर अरिहन्त आदि के गुणो का गान करता है, उनकी प्रशसा करता है। इन तीन लब्धियों की प्राप्ति होना सम्यक्त्व की भूमिका है। जो आत्मा इन लब्धियो को प्राप्त करते है, वे सम्यक्त्व के सन्निकट पहुंच जाते है। उससे भी आगे बढ़ कर सम्यक्त्व प्राप्त कर लेने वाले जीव ससार समुद्र से पार हो जाते है।

ब्यावर
१३-९-५६

: ७ :

तीन करण

वीरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो वीरं बुधाः संश्रिताः,
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्यं नमः ।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं वीरस्य घोरं तपो,
वीरे श्रीधृतिकीर्तिकान्तिनिचय. हे वीर ! भद्रं दिश ॥

× × ×

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराः पूज्या उपाध्यायकाः ।
श्रीसिद्धान्तसुपाठका मुनिवरा रत्नत्रयाराधकाः,
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

उपस्थित महानुभावो :

सम्यक्त्व का विषय चालू है। सम्यक्त्व रूपी महामूल्य रत्न की उपलब्धि सहज ही होने वाली नहीं है। भौतिक रत्न और जड़ धन भी अनायास प्राप्त नहीं होता। उसकी प्राप्ति के लिए भी मनुष्य को अथक-अनवरत प्रयास करना पड़ता है। अपने बाल-बच्चों को छोड़कर देश-विदेश में मनुष्य भटकता फिरता है। मान-अपमान, सर्दी-गर्मी, भूख प्यास आदि की परवाह नहीं करता।

जान जोखिम मे डालता है, अतल सागर मे गोते लगाता है और कभी आसमान मे उडता है। तब कही लाभान्तराय का क्षयोपशम हुआ तो भौतिक धन मिलता है। लाभान्तराय का क्षयोपशम न हुआ तो सब प्रयत्न व्यर्थ हो जाते है और मनुष्य को निराशा ही हाथ लगती है।

इस प्रकार नाशमान् धन, जो कभी-कभी शीघ्र ही नष्ट हो जाता है और अधिक से अधिक इसी जन्म तक साथ देता है, वह भी सहज प्राप्त नही होता। जो सम्यक्त्व धन, जिसे ज्ञानी जन असली रत्न कहते हैं, साधना के बिना और आत्मा को पात्र बनाये बिना किस प्रकार प्राप्त हो सकता है ?

सज्जनो ! भौतिक धन जीव को अनन्त जन्मों मे और अनन्त बार मिल चुका है। कई बार यह जीव देवलोक मे उपज चुका और हजारो देवविमानो का अधिपतित्व प्राप्त कर चुका। चादी और सोने के पहाडों का भी स्वामी बन चुका। इतना सब कुछ प्राप्त कर लेने पर क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ? लालसा ज्यो की त्यो बनी रही। वह मिट भी कैसे सकती है ? ससार के थोडे से धन से उसका मिटना असंभव है। यदि ससार का समस्त धन तृष्णाशील मनुष्य को मिल जाये तो भी तृष्णा मिटेगी नही, बल्कि बढ़ेगी ही। शास्त्रकारो ने स्पष्ट घोषणा की है—

जहा लाहो तहा लोहो।

अर्थात् ज्यों-ज्यो लाभ होता है, त्यो-त्यो लोभ भी बढता ही चला जाता है।

मैंने कल बतलाया था कि सम्यक्त्व की प्राप्ति उसी जीव को होती है, जो अपने आपको उसके योग्य बनाता है। कल सम्यक्त्व

प्राप्ति होने से पहले प्राप्त होने वाली पांच लब्धियों का उल्लेख भी किया गया था। जब तक जीव को उन लब्धियों की प्राप्ति नही हो जाती, तब तक सम्यक्त्व की भी प्राप्ति नही हो सकती। उन पांच लब्धियों मे से कल तीन लब्धियो पर प्रकाश डाला गया था। अब क्रमप्राप्त चौथी प्रयोगलब्धि के विषय मे विचार करना है।

(४) प्रयोगलब्धि—प्रयोग शब्द का अर्थ है—विशेष रूप से किसी श्रेष्ठ कार्य मे लग जाना। जब आत्मा मे विशुद्धता आती है और सब कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति की हानि हो जाती है, तब प्रयोग-लब्धि की प्राप्ति होती है।

कर्मों की स्थिति तीन प्रकार की है—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। बन्ध के काल मे जीव की जैसी परिणामधारा होती है, उसी के अनुसार न्यूनाधिक कर्मबंध होता है।

आशय यह है कि जब आठों कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति मिट कर जघन्य के रूप मे आ जाती है, तब प्रयोलब्धि प्राप्त होती है। जब आत्मा का कर्मो से बहुत कुछ परिमार्जन हो जाता है, तब प्रयोगलब्धि का लाभ हो सकता है। कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति का चक्कर जब तक चलता रहता है, प्रयोगलब्धि प्राप्त नही हो सकती।

इस प्रकार प्रयोगलब्धि प्राप्त करने के लिए सतत प्रयत्न करना होगा और कटिबद्ध होकर उद्यम करना होगा और प्रशस्त लोगो का आश्रय लेकर कर्मो की स्थिति को घटाना होगा। कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति प्रयोगलब्धि मे बाधक है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की, मोहनीय कर्म की सत्तर

कोडाकोड़ी सागरोपम की, आयु कर्म की तेतीस सागरोपम की और नाम तथा गोत्रकर्म की वीस कोडाकोडी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है।

इस उत्कृष्ट स्थिति को जीव जब जघन्य रूप मे परिणत कर देता है, तभी उसे भान होता है, वह करवट वदलता है और अगडाई लेकर उठता है और तव उसको प्रयोगलब्धि होती है। तभी किसी कार्य मे जुट जाने की शक्ति उसमे आती है। जो छ. माह से वीमार हो और जिसकी शक्ति क्षीण हो गई हो, उसे कोई परिश्रम का कार्य सभला दिया जाये तो उससे नही हो सकेगा। जब तक उसमे शक्ति का संचार नही हो जाता, तब तक वह श्रमसाध्य कार्य नहीं कर सकता। तो किसी 'धर्म-कार्य मे, श्रेष्ठ कार्य मे, अपने या पराये हित-कार्य मे लगने के लिए उसे कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति को कम करना होगा।

सागर अर्थात् समुद्र जैसे अथाह होता है, उसी प्रकार कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति भी अथाह होती है।

सज्जनो ! यह सुनने योग्य विषय है। श्रोता सुनते-सुनते भी आधा पंडित हो जाता है। जैसे कम्पाउडर वैद्य के पास रहते-रहते वैद्य वन जाता है और कभी-कभी तो वह वैद्यराज को भी सलाह देने योग्य हो जाता है, उसी प्रकार जो श्रोता धारण करने की बुद्धि से और ज्ञान वनाये रखने की दृष्टि से सुनता है, उसे आधा पडित हो जाना ही चाहिए। आप को लोगो को धर्म गुरु रूप वैद्यो के पास रहते-रहते जमाना वीत गया। काले से धोले हो गये। मुंह मे धोले नही रहे और सिर पर काले नही रहे। फिर भी अव तक आपको रोग और दवाइयो का पता नही चला, यह कितनी खेद की वात है।

तो उत्कृष्ट स्थिति को मध्यम या जघन्य स्थिति के रूप में पलट देने पर ही प्रयोगलब्धि होती है। अभी कहा गया है कि ज्ञानावरण आदि चार कर्मों की स्थिति ३०-३० कोडाकोडी सागरोपम की है। अर्थात् तीस करोड़ से तीस करोड का गुणाकार करने पर जो सख्या आती है, वह तीस कोडाकोडी कहलाती है। ऐसे तीस कोड़ाकोडी सागर की उपरोक्त चार कर्मों की स्थिति है। स्थिति का अर्थ है—जीव के साथ कर्मों का बधा रहना। तो इतने लम्बे समय तक कर्म जीव के साथ वद्ध रहते है, उससे अधिक नही रहते। यो तो ससारी जीव सदैव नये-नये कर्म बाधता रहता है और भोगता भी रहता है। कोई भी समय ऐसा नहीं जाता कि जीव कर्म न बाधता हो और न भोगता हो। नये कर्म सदैव बंधते रहते है और पुराने बधे कर्मो में से जिनकी स्थिति का परिपाक हो चुकता है, उनका वेदन होता रहता है। अनादि काल से यही परम्परा चली आ रही है।

सब कर्मो मे मोहनीय कर्म का भूत वडा ही जबर्दस्त है। वह एक बार चिपटता है तो अधिक से अधिक सत्तर कोडाकोड़ी सागरोपम तक जीव का पिंड नही छोडता और जीव को उसके कब्जे मे रहना पडता है। याद रक्खो, एक बार मिथ्यात्व का सेवन करने से यदि मोहनीय कर्म बध गया तो सत्तर कोडाकोडी सागरोपम तक भटकते फिरोगे और सम्यक्त्व प्राप्त न कर सकोगे।

सज्जनो ! गहराई से सोचने की बात है। आज तुम बात-बात मे मिथ्यात्व को प्रोत्साहन दे रहे हो और उसके शिकार बन रहे हो। मगर यह भी सोच लेना कि इसका परिणाम क्या होगा।

छठा आयु कर्म है। जो जीव अति उत्कट भाव से आयुकर्म का बध करता है, वह उत्कृष्ट तेंतीस सागरोपम की आयु बाधता

है और फिर इतने लम्बे समय तक सुख-दु.ख भोगता रहता है। तेतीस सागर तक दु ख भोगने के लिए जीव को सातवे नरक मे जाना पड़ता है। किन्तु यह जीव एक वार नही, अनन्त वार इस दशा में उत्पन्न हो चुका है।

भगवतीसूत्र मे भगवान् से प्रश्न किया गया है---भगवान् ! यह जीव नरक मे गया ?

उत्तर---अनन्त वार नरक मे जा चुका है।

प्रश्न---प्रभो ! भविष्य मे भी जायेगा ?

उत्तर---हां, कोई जीव जायेगा, कोई नही जायेगा।

अभिप्राय यह कि जो जीव नरक मे जाने योग्य काम करेगा वह नरक मे जायेगा। जो चोरी करेगा, उसे जेलखाने की हवा भी खानी पडेगी। जो चोरी या ऐसा कोई काम नही करेगा, उसे जेलखाने मे भी न जाना होगा। यहाँ तो कोई शक मे भी पकड़ा जा सकता है, किन्तु वहाँ कर्म सिद्धान्त की दुनिया मे ऐसा नही होगा कि अपराध करे कोई और पकडा जाये कोई। यहाँ फैसले मे भी गडवड हो सकती है, किन्तु वहां उसके लिए गु जाइश नही। जिसने नरक के योग्य कार्य नही किया, वह नरक नही जायेगा। जिस जीव ने एक भी गति को परीत दिया अर्थात् ताला लगा दिया, वह निश्चय ही देर-सवेर मोक्ष मे जायेगा।

जो नरक-योग्य कार्य करता है, वह एक वार, दो वार, सख्यात वार और असंख्यात वार ही नही, अनन्त वार भी जा सकता है। हाँ, यह अवश्य है कि नरक से निकला जीव फिर सीधा नरक मे नही जाता। उसे वीच मे मनुष्य या तिर्यंच गति मे उत्पन्न होना पड़ता है। इसके विपरीत जिसने नरक गति को परीत कर हमेशा

के लिए ताला लगा दिया, वह जीव धीरे-धीरे कर्मक्षय करके अवश्य ही मोक्ष मे चला जाता है।

आशय यह है कि आयु कर्म की तेंतीस सागरोपम से अधिक स्थिति नही है और २५६ आवलिका से कम नही है। इन दोनो के बीच की अवस्थाए मध्यम आयु की है।

तो प्रयोगलब्धि वाला जीव श्रेष्ठ कार्य मे जुट जाता है। परन्तु प्रत्येक जीव के लिए ऐसा करना शक्य नही है।

शेष रह गये नाम कर्म और गोत्रकर्म। इन दोनो की उत्कृष्ट स्थिति वीस-वीस कोड़ाकोडी सागरोपम की है। यह सब उत्कृष्ट स्थिति वाले कर्म जब कम स्थिति वाले हो जाते है, तब चौथी प्रयोगलब्धि प्राप्त होती है।

यह चार लब्धिया भव्य और अभव्य दोनो प्रकार के जीवो को प्राप्त हो सकती है। साधारणतया अभव्य जीव के जीवन का भी विकास और ह्रास होता रहता है। अभव्य जीव अपना विकास करते-करते इक्कीसवे देवलोक तक जा सकता है। द्रव्यचारित्र द्वारा उसका विकास होता है। वह भी गौतम स्वामी के समान बाहर की करणी करता है। वडी गवेषणा करके निर्दोष आहार लेता है, ईर्या समिति आदि का पालन करता है। इस प्रकार द्रव्य-क्रियाओ का पूरा नाटक करता है। किन्तु उसकी समस्त क्रियाए द्रव्यक्रियाए मात्र होती है, निष्प्राण है, उनमे भाव-जीवन नही है। वह जप, तप, सयम आदि सभी कुछ आत्म-प्रशसा के लिए, पौद्गलिक सुख के लिए और मान-वडाई पाने के लिए करता है। उसकी कठिन साधनाओ के साथ यदि सम्यक्त्व का मेल हो जाता तो वह मोक्ष मे ही चला जाता। सम्यक्त्व के अभाव मे उसने अनन्त वार यह नाटक खेला, पर मोक्ष नही पा सका।

सज्जनो ! इसी कारण मै वार-वार चेतावनी देता हू कि आप सम्यक्त्व से जागृत होओ। मगर फिर भी आप नीद ले रहे हो। आपका चित्त नही वदलता तो मेरा क्या अपराध है ? आपको चरित, ढाल, चौपाई आदि सुनने मे रस आता है, मगर थोडा जयपुर का मिस्री मावा भी तो खाना चाहिए। तवियत भर कर खा लिया और पचा लिया तो तरावट आ जायेगी और फिर दूसरी कोई चीज खाने की इच्छा ही नही रहेगी। मगर खाना तभी सार्थक होगा जव कि आपकी जठराग्नि उद्दीप्त होगी और आतो मे हजम करने ताकत होगी। हाँ, चरित सुनने से भी लाभ होता है और सामान्य वोध मिलता है, किन्तु सैद्धान्तिक विषयो मे तो वे ही रस ले सकते है, जिनकी आत्मा कुछ वोधशील होती है।

सक्षेप मे आशय यह है कि जीव जब अपने कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति घटाता जाता है, तव उसे प्रयोगलब्धि की प्राप्ति होती है।

(५) पाचवी, करणलब्धि है। चार लब्धियो की प्राप्ति के पश्चात् पाचवी करणलब्धि प्राप्त होती है। यहा करण का अर्थ है—आत्मा का परिणाम। करण के तीन भेद है—यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। यह गगा, यमुना और सरस्वती का त्रिवेणी सगम है। वैदिक धर्म मे त्रिवेणीस्नान का वडा महत्त्व माना गया है। वहुत वडा जनसमूह त्रिवेणीस्नान से पापो का नाश होना मानता है। किन्तु एक नदी का पानी जैसे पानी है, वैसे ही तीन नदियो का पानी भी पानी ही है। हजार नदियां मिल जाये तो भी पानी का स्वभाव पलट नही सकता। पानी का स्वभाव शरीर के मैल को साफ करने का है। वह आत्मा के मैल को साफ नही कर सकता।

आध्यात्मिक मैल को धो डालने और आत्मा को विशुद्ध-निर्मल या स्वच्छ बनाने मे यदि कोई समर्थ है तो वह तीन करण वाली त्रिवेणी ही है। यह वह कल-कल निनाद करती हुई धारा है, जिस में परम पवित्रता है। यह धारा मानव के जन्म-जन्मान्तर के पापो की कालिमा को धो देती है और आत्मा को अतिशय स्वच्छ बना देती है।

अब जरा, तीनों करणो पर विचार कर ले। यथाप्रवृत्तिकरण से ठीक रूप से काम करने की योग्यता आती है। जिस तरीके से और सुन्दर ढग से कार्य होना चाहिए, वह इसी करण से होता है।

हम कितना ही जोर लगाते है कि ऐसा मत करो, वैसा मत करो, फिर भी तुम अपने ही मन की मौज पर चल रहे हो। जिधर जाना चाहिए, उधर न जाकर और ही किधर जा रहे हो। इसका कारण क्या है? यही कि अभी तक तुम्हारे अन्दर यथाप्रवृत्तिकरण का जागरण नही हुआ है। जब वह आ जायेगा तो तुम्हे अधिक कहने की आवश्यकता ही नही रहेगी। वह करण ही तुम्हारा पथ-प्रदर्शक बन जायेगा। फिर गुरु की खोज की भी अनिवार्य आवश्यकता न रहेगी। वह मनुष्य को सीधे मार्ग पर ले जाता है। अन्त.-करण मे जब यथाप्रवृत्तिकरण उत्पन्न हो जाता है तो वह आत्मा को कर्त्तव्य कर्म की ओर ही प्रेरित करता है। कोई उलटे रास्ते जाना भी चाहे तो भी उस करण के सद्भाव मे उससे विपरीत मार्ग पर नही जाया जाता और यदि वह विपरीत दशा मे चला गया तो समझ लो कि वहां यथाप्रवृत्तिकरण आया ही नही है। क्या मजाल किसी की कि इस करण के सद्भाव मे कोई एक इच भी गलत राह पर कदम बढ़ा सके!

जब तक जीवन मे वास्तविक और आन्तरिक उत्क्रान्ति नही आई है, तभी तक मनुष्य जो नही करना चाहिए, वह करता है और जो करना चाहिए वह नही करता है। उत्क्रान्ति आने पर अर्थात् यथा-प्रवृत्तिकरण उत्पन्न होने पर सीधी गति ही होती है, वक्रगति नही होती।

दूसरा अपूर्वकरण है। पहली वार क्रिया करने की जो युक्ति आई है, वह अपूर्वकरण है। आज तक आत्मा मे जो उच्चकोटि की भावना उत्पन्न नही हुई थी, वह इस अवस्था मे उत्पन्न होती है। यही अपूर्वकरण है।

कोई करण आत्मा मे आता है और आकर चला जाता है। कोई चीज मिली और खो गई। प्रकाश हुआ और फिर अधकार हो गया। इससे क्या लाभ ? मगर अनिवृत्तिकरण वह दिव्य प्रकाश है और वह अमर फल है जो एक वार आता तो है, किन्तु फिर जाता नही है। वह कर्त्तव्यपरायण करने की क्रिया है जो आकर जाती नही। अनिवृत्तिकरण ने आकर वापिस जाना सीखा ही नही है। वह तो आत्मा मे केवलज्ञान और केवलदर्शन की ज्योति जगा कर ही रहता है। अनिवृत्तिकरण के आने पर आत्मा अपने विशुद्ध मार्ग से, ध्येय से, साधना से, पथ से, लक्ष्य से और उद्देश्य से एक इच भी इधर से उधर नही होता हजारों कष्टो के पहाड क्यो न टूट पड़े, मुसीवतो की विजलिया क्यो न गिर पड़े और वज्र-पात भी क्यो न हो जाये, किन्तु वह उन सव का दलन करता हुआ अग्रगामी वनता है। वह पीछे नही हटता।

अनिवृत्तिकरण आया था गजसुकुमाल मुनि को जो श्रीकृष्ण के लघु सहोदर भ्राता थे। मुनिराज श्मशान मे मौन भाव से

ध्याननिलीन खड़े है। ब्राह्मण सोमिल पूर्वकालीन विद्वेषभाव से प्रेरित होकर उनके मस्तक पर गीली चिकनी मिट्टी की पाल बनाता है और दहकते हुए अंगार उसमें रख देता है। मुनि का मस्तक खिचड़ी की तरह खदबद-खदबद सीझता है। नसें चर्र-चर्र करके टूटती हैं। किन्तु वाह री निश्चलता! ज्यों-ज्यों खोपड़ी सीझती है, त्यों-त्यो उनकी आत्मा की ज्योति बढ़ती जाती है। मानों खोपड़ी क्या जल रही है, कर्मों की राशि जल रही है!

और प्रात: स्मरणीय है वे खधक मुनि! जीते जी शरीर पर से खाल उतार ली गई, मगर मन में तनिक भी मैल न आया। समभाव और उपशान्त परिणामो से चमड़ी उधड़वा ली।

धन्य है मुनिवर मेनार्य, जिनके मस्तक पर गीला चमड़ा लपेट दिया गया और जब वह सूखा तो नसें तड़ातड़ चटकने लगी। आंखें बाहर निकल आई। मगर क्या मजाल कि मुख से उफ तक निकले! वे अपने सत्याग्रह से इंच भर भी पीछे नही हटे और भावना में लेश मात्र भी परिवर्तन नही होने दिया।

सज्जनो! यह सब क्या है? क्या चीज़ काम कर रही थी कि पाच सौ साधुओ को विद्वेषियो ने ईख की तरह घानी मे पेल दिया और रस की जगह रक्त की सरिताएं बह गई। मगर उनके मन मे विषम भावना तक न आई। वे अपने धर्म से विमुख या शिथिल न हुए और पूर्ण समाधि मे लीन बने रहे।

भद्र पुरुषो! इस दृढता का कारण था अनिवृत्तिकरण। अनिवृत्तिकरण की दिव्य ज्योति अन्दर काम कर रही थी, जिसने उन्हे पथ-विचलित नही होने दिया।

एक वार अनिवृत्तिकरण आ जाता है तो वह पीछे लौटना नही जानता। वह सव विघ्नो और वाधाओ को दृढता के साथ हटाता

जाता है। जैसे टैंक के आगे जो चक्र और मशीन होती है, वह आगे आने वाले झाड-झखाड़ो को, पत्थर के टीलो को उखाड़ता जाता है। वह पहाडो पर भी चढ़ जाता है और वृक्षो को भी धराशायी करता जाता है। वह मार्ग मे आये हुए सभी विरोधी तत्त्वो को विस्मार करता बढ़ता जाता है।

आत्मा मे इस प्रकार की कर्त्तव्यपरायणता, जागृति और धर्मानुरक्ति तभी आती है, जब अनिवृत्तिकरण आजाता है। उसका काम बीच मे ठहरना नही, विश्राम करना नही, किन्तु अबाध गति से मंजिल पर पहुचना है।

सज्जनो ! आत्मा में जब ये अवस्थाए आती है तो वह स्वय गतिशील हो जाती है। किन्तु जिस लडके मे दिमागी शक्ति ही नही है, अध्यापक उसके साथ कितनी ही मेहनत क्यो न करे, उसे विद्या नही चढती और वह योग्यता प्राप्त नही कर सकता। फिर भी कर्त्तव्यपरायण शिक्षक अपना कर्त्तव्य अवश्य पालन करता रहता है। वह सोचता है कभी न कभी तो इसे ज्ञान प्राप्त होगा ही, भले उसकी मात्रा स्वल्प ही क्यो न हो ! अतएव व्यवहार मे जो कार्य करने योग्य है, उन्हे करते ही रहना चाहिए।

यह तीन करण है। इन करणो मे भी तारतम्यता है और क्रमश. परिणामो की धारा विशुद्ध होती चली जाती है। यह परिणाम श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर और श्रेष्ठतम है। श्रेष्ठ अच्छा, श्रेष्ठतर अति अच्छा और श्रेष्ठतम सब से अच्छा। यह आत्मा की तीन विशुद्ध, विशुद्धतर और विशुद्धतम भूमिकाएं है।

तो मैंने बतलाया कि अनिवृत्तिकरण सर्वोत्तम करण है और उसके आ जाने पर बेडा पार हो जाता है। उस करण वाले जीव को केवल ज्ञान और केवल दर्शन की प्राप्ति अवश्य होती है।

सज्जनो ! सम्यक्त्व की प्राप्ति से पहले प्राप्त होने वाली पाच लब्धियों का संक्षेप में दिग्दर्शन कराया गया। इतनी तैयारी करने पर सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है । यो तो सभी समझते है कि हम सम्यग्दृष्टि है, श्रावक है और दूसरे मिथ्यादृष्टि है। दूसरो को मिथ्यात्वी होने का फतवा देने मे कोई कठिनाई नही होती । मगर सम्यक्त्व कोई मिस्री की डली नही कि झट से मु ह में डाल ली जाये ।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए वडी भारी सावना की आवश्यकता है । जव दुनियावी रत्न भी विना साधना और भाग्य के नही मिलते है तो समकित रूपी रत्न, जो महामूल्यवान् है और जो परलोक मे भी साथ जाता है, विना सावना और विना अथक परिश्रम के कैसे प्राप्त हो सकता है ?

सज्जनों ! मै जो गोलियां खिला रहा हू, वे कइयो को प्रिय लगती है पर कइयो को सुहाती नही होगी । मगर सुहाती उन्ही को नही है जो मिथ्रपंथी है। हा, जो लघुकर्मी जीव हैं वे चाहे उसपर अमल कर सके या न कर सकें अथवा आंशिक रूप मे अमल कर सके, किन्तु 'लगती उन्हे अच्छी ही होगी । वे यह अवश्य अनुभव करते होगे कि यह गोलिया अवश्य स्वास्थ्य प्रदान करने वाली है ।

आपके यहां कई श्रोता कहते है कि समकित के विषय मे इतना खुलासा तौर पर सुनने का यह हमारे लिए प्रथम ही अवसर है । यह कहा तक सही है और कहां तक नही, वही जान सकते है । मगर दूसरी विरुद्ध प्रतिध्वनि भी कान मे आती है । भाइयो ! दो तरह के फूल होते है । एक चम्पा, चमेली, गुलाव, जुही आदि के सुगंवयुक्त पुष्प होते है । दूसरे मृतक की अस्थियां, जो जलने के वाद अवशिष्ट रह जाती है, उन्हे भी लोग फूल कहते है । दोनो

प्रकार के फूल गगा मैया मे चढाये जाते है—अर्थात् डाले जाते है। गगा दोनों को समभाव से ग्रहण और सहन कर लेती है। वह किसी पर खुश या नाराज नही होती।

हम साधु है और समभाव रखना ही साधु की विशेषता है। अत. हम भी यही सोचते है कि—हमे ऐसी कौन-सी आपत्ति है जो विरुद्ध बात हमारे हृदय मे नही समा सकती ? हम प्रशसा सहन कर लेते है—प्रशसा को पचाने वाली जठराग्नि हमारे अन्दर मौजूद है, तो विरुद्ध बाते भी हम पचा ले, वे विशाल पेट मे पड़ी रहे और उनका आनन्द हम लिये जाये तो क्या विगड़ता है ?

जब तक आवश्यकता की पूर्ति के लिए अनाज मौजूद है, तब तक उसकी कीमत मालूम नही होती। मगर जब उसकी कमी पडती है तब कीमत का पता चलता है। अभी आप समझे हुए है कि चार महीने का अनाज कोठे में भरा हुआ है, मगर उसमे से खाते-खाते दो महीने समाप्त हो चुके है। अब केवल दो माह का ही शेष रह गया है। उसके भी समाप्त होने मे क्या समय लगेगा ? अतएव बुद्धिमान् पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह एक-एक दाने को सभाल कर रक्खे। वह किसी समय आपके काम आयेगा। एक-एक दाने की कीमत हीरे-पन्ने के बराबर नही, बल्कि उससे ऊची है। अवसर आने पर अनाज की जो कीमत होती है, वह जवाहरात की भी नही हो सकती। दुर्भिक्ष पड़ने पर एक दाना कितना मूल्य रखता है, यह भुक्तभोगी ही जान सकता है। हजार हीरे प्राणो की रक्षा नही कर सकते परन्तु समय पर मिले हुए अन्न के थोड़े से दाने भी प्राण बचा सकते है।

एक बार राजा चन्द्रगुप्त ने स्वप्न मे बारह फण वाला सर्प देखा। भद्रबाहु स्वामी ने उसका फल बतलाया कि एक द्वादशवर्षीय

भयानक दुर्भिक्ष होगा। जब वह दुर्भिक्ष पड़ा तो उस दुर्भिक्ष मे एक-एक दाने की कीमत हीरो से भी ऊची चढ़ गई थी। लोग ज्वार के बराबर जवाहरात तोल कर देने को तैयार थे, फिर भी ज्वार नही मिलती थी। जवाहरात जीवन की अनिवार्य वस्तु नही है। उसके बिना कोई भी भूखा नही मर सकता, परन्तु ज्वार के बिना लोग छटपटा कर मर जाते है। उस समय जवाहरात का उतना ही मूल्य रह गया था, जितना आज सस्ते से सस्ते अनाज का है। आखिर जवाहरात से पेट तो भर नही सकता। पेटपूर्ति के लिए तो अन्न ही चाहिए।

सवत् १९५६ के समय की घटना है। हमारे बाबा गुरु श्रीमया-रामजी महाराज जयपुर से पजाब की तरफ जाना चाहते थे। मगर लोगो ने कहा—महाराज! अभी अवसर नही है। दुर्भिक्ष के कारण रास्ते मे सर्वत्र हाहाकार मच रहा है और विहार के मार्ग मे पु ढार प्रान्त आता है जो कि बहुत ही निर्धन और भूखा माना जाता है। गुरु महाराज सुनाते थे कि उस दुष्काल मे लोग कहते थे कि रेल की पटरियो पर जहा-तहा मुर्दे ही मुर्दे पड़े थे। कोई नगा और कोई किसी हालत मे पड़ा था। कोई उनका दाहसंस्कार करने वाला भी नही था। यह दशा थी उस भयकर अकाल की तो लोगो के कहने से श्रीमयाराम महाराज को जयपुर मे ही ठहरना पडा।

जब उन्होने जयपुर से पजाब की ओर विहार किया तो श्री-छोटेलाल जी म० एक गांव मे आहार-पानी के लिए गये। उन्हें कुछ जली हुई बाटिया और थोड़ा-सा शाक आदि मिला। उसे लेकर वे आ रहे थे तो रास्ते मे कुछ भूखे मगते मिल गये। उन्होने झपटा मार कर झोली-पात्रे छीन लिये। उनमें खाने की जो सामग्री थी, लेकर खा गये। हां, उन्होने इतनी उदारता अवश्य दिखाई कि

खाली पात्र मुनिजी को वापिस लौटा दिये। खाली पात्र लेकर श्री-छोटेलाल महाराज श्रीमयाराम जी महाराज के पास पहुचे तो मयाराम जी महाराज ने पूछा—कुछ मिला ?

महाराज—मिला तो था।

गुरुजी—फिर क्या हो गया ?

महाराज—मार्ग मे मगते मिल गये और वे पात्र छीन कर सब खा गये।

सज्जनो ! यह भूख बडी ही क्रूर राक्षसी है। उसके कारण मनुष्य जव तिलमिला जाता है तो उसे हिताहित का भान नही रहता, ऊच-नीच का ख्याल नही रहता, पुण्य-पाप का विवेक नही रहता। भूखा मनुष्य जानवरो को काट कर खा जाता है। यहां तक कि माता अपने हृदय के टुकड़े प्यारे बच्चे को भी खा जाती है। वृक्षो की छाल खा लेना तो साधारण-सी वात है। इस पेट के लिए मनुष्य क्या नही करता ?

बुभुक्षितः किन्न करोति पापम् ?

भूखा आदमी कौन-सा पाप नही कर डालता ?

सवत् ५६ के अकाल का असर पजाव पर नही हुआ और इसीलिए उसने वागड की दुनिया के लोगों को सभाल लिया। पजाव मे कितनी ही नदिया और नहरे वहती है। अव तो भाखरा वाध के कारण पजाव हिन्दुस्थान का पेरिस होने जा रहा है। वहा वारहो मास नदिया वहती रहती है। और उधर वीकानेर-जैसलमेर की ओर चले जाओ तो पीने को भी पानी मिलना कठिन है। सम्भव है वहा पानी न मिलने पर साधु को चौविहार संथारा करने की नौवत आ जाये। सुना है कि उधर कई साधु पानी न मिलने से

काल कर गये। जब हम सम्मेलन मे नासर गये थे, तब रास्ते मे लोगो से मालूम हुआ था कि वहा के पशुओं को तीसरे-तीसरे दिन पानी पीने को मिलता है। मैंने स्वय पशुओं को तीन-तीन चार-चार मील की दूरी पर पानी पीने जाते देखा। यह हाल है उस वागड़ देश का।

सवत् १९५६ मे जो दुष्काल पड़ा, बडा भयानक था। गीतो में आज भी उसकी स्मृति सुरक्षित है :--

घर घर वकरी घर घर ऊट,
छपनियो पड़ गयो चारो खूंट।
छपनियो काल फिर मति आओ भोली दुनिया में ॥१॥
जवाहिरलाल वाणिया ने नागौर का सेठ,
वड़े वड़े सेठो की उठ गई पेठ।
मोटी मोटी वादली ने छोटी छोटी बूंद,
वड़े वड़े सेठो की ढल गई दूंद।

लोगो के यहा घर-घर मे वकरी और ऊट आदि थे, किन्तु वे प्राय. दुष्काल के ग्रास बन गये। नगर के वडे-वडे सेठो का मामला भी ठडा पड गया। क्या दशा हुई सो कहना भी कठिन है। सज्जनो ! जिनके पेट मोटे-मोटे, रूई के वोरे के समान फूले हुए थे, वे सूख गये और कचरे (चीभड़) की तरह सिकुड गये। जैसे हवा निकल जाने पर फुटवाल पिचक जाता है, उसी प्रकार वे पिचक गये।

जितने भी अनुकूल साधन मिलते हैं, सब पुण्य के उदय से ही मिला करते हैं। पाप का उदय हो तो ऐसा क्षेत्र मिलता है कि पीने को पानी भी न मिले।

हां, उधर के लोग गरीब होते हुए भी श्रद्धालु है और घर मे होते हुए किसी चीज़ के लिए जल्दी से इन्कार नही करते। वे सुन्दर हिन्दू सस्कृति के पुजारी है, अतिथि सत्कार करने वाले है। जिस गाव मे हम ठहरे थे वहा के लोग बोले, महाराज! यहाँ पानी की इतनी तकलीफ है कि सडक से आते-जाते लोग अगर पानी मांगते है तो हमें यमदूत से दिखाई देते है। पर्याप्त पानी न होने के कारण ये उन के दुःखभरे शब्द है। हमने प्रात.काल वहा से कुछ पानी लिया, मगर देखा तो ऐसा दिखाई पडता था कि कई दिनो का हो! वह पिया नही जा सकता, बाह्य उपयोग मे ही लेना पडा। हमे गोगोलाव पहुचने पर ही पीने योग्य पानी मिल सका। किन्तु है वहा पर भी तालाब का ही!

आशय यह है कि सब अनुकूल सामग्री पाने के लिए पर्याप्त पुण्य अपेक्षित है। विशेषतया जो वस्तुए जीवन के लिए अनिवार्य है, उनका मूल्य जीवन की दृष्टि से ही आकना चाहिए। अन्न ऐसे ही पदार्थो में है। अत उसके एक-एक कण की कीमत करो। इसे यों ही बेकार समझ कर रद्दी की टोकरी मे मत डाल देना। हा, तो इस फकीर के दिये हुए एक-एक दाने को यदि सभाल कर रक्खा, सत्कार-सम्मानपूर्वक रक्खा, तो कभी न कभी वे दाने तुम्हारे काम आयेगे। तुम्हारे हीरे-पन्ने साथ जाने वाले नही है, मगर फकीर के दिये ये दाने साथ जाने वाले है और आगे काम आने वाले है।

किन्तु सज्जनो! जिनके मिथ्यात्व का उदय है, वे इन अनमोल दानो की कद्र नही कर सकते। हतभागी! यदि कही फेक दिये झोली भर कर तो तेरे जीवन का दिवाला निकल जायेगा और भूखा मरता फिरेगा। ये समकित के, जीवनदान देने वाले दाने सहज मे ही नही मिल जाते। ये उन्ही को प्रिय लगते है जिनके

मिथ्यात्व का क्षयोपशम हो जाता है। जिनके मिथ्यात्व का उदय है, उन्हें यह अच्छे नही लगते। एक दृष्टान्त से यह बात अच्छी तरह समझ मे आ जायेगी—

एक नामी चोर था। शहर में उसका उपद्रव बहुत बढ गया था। वह धन ही नही चुराता था, किन्तु षोडशवर्षीया कन्याओ और सुन्दरी युवती स्त्रियो को भी उड़ा कर ले जाता था। बड़ा जबर्दस्त और साहसी था। राजा और प्रजा के लिए मूर्त्तिमान् अभिशाप था। सभी उसकी क्रूर करतूतों से हैरान और परेशान थे। सर्वत्र उसने अपना आतक फैला रक्खा था। इतना चालाक था कि सिपाहियो की आंखों मे धूल झोक कर और अपना काम सिद्ध करके चला जाता था। सब त्रस्त और भयभीत रहते थे। वह पकड़ मे आता नही था।

उसके ऐशो-असरत की दुनिया जमीन के ऊपर नही, नीचे थी। उसके काले कारनामे बड़े क्रूरतापूर्ण थे। बहू-बेटियो की इज्जत बचाना कठिन हो रहा था। उसका दैत्याकार विकराल शरीर बड़ा ही भयंकर था। उसने चारो ओर तहलका मचा रक्खा था।

आपने अभी कुछ समय पहले, जो डाकू मानसिंह मारा गया है, उसका फोटो अखबारो में देखा होगा। उसकी कितनी बडी-बड़ी भुजाए, आंखे और कितनी चौड़ी छाती थी! सैकड़ों का खून करने वाला और कितनी ही सुहागनियों का सुहाग लूटने वाला पापी जीव मानसिंह आखिर कब्जे मे आ ही गया और गोली का शिकार बना ही।

हां, तो वह चोर भी अतीव रुद्र था। उसके दिल मे दया, ममता जैसी मृदुल भावनाओ को कोई स्थान नही था। जब उस

का आतक वढता ही गया और लोग त्राहि-त्राहि पुकारने लगे तो कोतवाल ने उसे पकडने का वीडा उठाया। उसने जहा-तहां सिपाहियो का पहरा विठला दिया और उन्हे सतर्क कर दिया।

उधर चोर को भी कोतवाल की योजना का पता चल गया। उसने कोतवाल को उल्लू वनाने की ठान ली। रात्रि के समय उसने षोडशी सुन्दरी का वेष धारण किया और आभूषणो से सुसज्जित होकर नखरा भरी चाल से चलता हुआ चौराहे पर आ गया। उधर कोतवाल साहव चोर की तलाश मे गश्त लगा रहे थे। ज्यों ही उन्होने रात्रि मे एकाकी आती युवती को देखा, अपने कर्त्तव्य को भूल गये। दिल के अरमान पूरे करने के लिए वह आगे वढ़े।

अव कोतवाल साहव उसके सन्निकट पहुच चुके थे। युवती का वेष वनाये चोर ने अवसर के महत्त्व को समझ लिया। उसने अनेक प्रकार की लुभावनी चेष्टाए की। कोतवाल ने पूछा—तू कौन है ?

उसने कुछ भी स्पष्ट उत्तर न देते हुए सिर्फ टिच्-टिच् की ही ध्वनि की।

तव कोतवाल ने तनिक तीखे स्वर से कहा—तुम कोई आवारा औरत मालूम होती हो। तुम्हे कोतवाली मे चलना पड़ेगा।

तव उसने धीरे-से कहा—तो ले चलिए।

उसकी चाल-ढाल आदि देख कर कोतवाल मुग्ध हो गया। कामान्ध वन गया। कहाँ तो वह वहू-वेटियो की रक्षा करने की प्रतिज्ञा करके चला था और कहा अव स्वय ही उस मर्ज का मरीज़ वन गया। ऐसे कर्त्तव्यभ्रष्ट मनुष्यो की अगर दुर्दशा न होगी तो किसकी होगी ?

कोतवाल उसे कोतवाली में और फिर एक कमरे मे ले गया। दूसरे सिपाहियो को उसने कहा—मैं इस स्त्री के बयान लूंगा। तुम लोग बाहर जाकर पहरा दो।

सिपाही बाहर जाकर अपनी-अपनी ड्यूटी पर तैनात हो गये। स्त्री वेषी चोर नजाकत के साथ कमरे में घूमने लगा। उसने घूमते-घूमते देखा—एक तरफ खोड़ा पड़ा है। वह उस ओर गया और कोतवाल से पूछने लगा—यह क्या है ? यह तो बड़ा अच्छा लगता है।

कोतवाल ने हंस कर कहा—इसमे चोरों, गुडो और बदमाशों का पैर फसा दिया जाता है।

चोर—इसमें पैर कैसे फंसता होगा ? जरा मेरा पैर फंसा कर दिखा दीजिये न !

कोतवाल—कोमल पैर इसमे फसने के लिए नही बने है। इसमे फसने के लिए कठोर पैर चाहिए। मैं अपना ही पैर फसा कर दिखलाता हूं।

कामान्ध पुरुष की बुद्धि नष्ट हो जाती है। अतएव कोतवाल ने खोड़े में अपना पैर फसा दिया और उसे समझाने लगा—चोर का पैर यो फसता जाता है।

पास मे एक खील पड़ी थी। चोर-युवती ने वह खील उठाई और खोड़े में फसा दी। बस, विषयान्ध कोतवाल मुलजिम बन कर अपनी ही करतूत से खोड़े मे फस गया।

कोतवाल को पराधीन स्थिति मे देखकर युवती ने घूघट खोल दिया और कहा—कोतवाल साहब ! किस बिरते पर आप चोर को पकड़ने चले थे ? मुझे अच्छी तरह पहचान लो, मैं वही हू

जिसे तुम पकडना चाहते थे। मै स्वय पकड मे आ रहा था, मगर तुमने पकडा नही और स्वयं ही मेरी पकड़ मे आ गये !

चोर ने कोतवाल की एक तरफ की मूंछ काट ली और पांच-सात जूते मार कर उसका मद भी उतार दिया। चोर वहां से रफूचक्कर होकर अपने स्थान पर आ गया।

सिपाहियो ने सोचा—बहुत समय हो जाने पर भी कोतवाल साहब बाहर नही आये, तो वे अन्दर गये। कोतवाल की दुर्दशा देख कर वे चकित हो गये। पूछा—साहब, आपका यह हाल कैसे हो गया ?

कोतवाल ने लज्जित होते हुए कहा—कुछ पूछो मत, यहां तो दूसरी ही रामायण हो गई।

आखिर सिपाहियो ने कोतवाल को खोडे से मुक्त किया। राजा के पास भी यह समाचार पहुचे कि चोर कोतवाल को भी धोखा देकर चला गया। यह सुनकर राजा के रोष का पार न रहा। उसने कहा—तुम सब हरामखोर हो। एक चोर को भी सब मिल कर नही पकड सकते। अब मै उसे पकड़ कर ही दम लूगा।

राजा ने भिखारी का रूप धारण किया। हाथ मे खप्पर लेकर अलख जगाना आरम्भ किया। थोडी देर बाद एक आदमी उधर से निकला तो भिखारी ने उससे कहा—भाई, मै बहुत भूखा हू और मुझे कुछ खाने को दो।

उसने कहा—मेरे पास क्या है कि तुम्हे दू ! हा, तू मुझे आशीर्वाद दे कि मै शहर में चोरी करके सही-सलामत लौट आऊ। फिर तो मै तुम्हे बहुत कुछ दे सकूगा।

भिखारी के रूप मे राजा ने उसे आशीर्वाद देते हुए कहा—जाओ बाबा, परमात्मा तुम्हारा भला करे।

चोर चला गया। उसने शहर में चोरी की और खूब धन लेकर उसी भिखारी के पास आया। कहा—बाबा, आपके आशीर्वाद से अच्छा धन मिल गया है।

चोर पास ही की एक शिला हटाकर उसमे प्रवेश कर गया। राजा ने उसके भीतर चले जाने के पश्चात् उस शिला को हटाना चाहा, किन्तु वह हट न सकी। फिर भी राजा ने चोर का खुफिया रास्ता जान लिया। वह शहर मे चला गया और वहा से नौजवान सिपाहियो को साथ लाया। उनकी सहायता से शिला हटाई गई। राजा ने अन्दर जाकर देखा तो कुछ निराला ही दृश्य दिखाई दिया। उसके अन्दर एक विशाल मकान था, जो राजमहल की सजावट को भी मात कर रहा था। जहा-तहा मखमली कालीन फर्श पर बिछे हुए थे और भीनी-भीनी सुगध सर्वत्र व्याप्त हो रही थी। बहुत-सी युवतिया वस्त्राभूषणो से सुसज्जित बैठी थी।

आखिर चोर को पकड लिया गया। वहा के समस्त धन को और उन रमणियो को राजा ने अपने अधिकार मे किया। चोर को प्राणदण्ड की सजा दी गई। औरतो को सम्मानपूर्वक अपने-अपने घर भेज देने की आज्ञा दी। मगर अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि राजपुरुप उन्हे उनके घर की ओर ले जाते है, पर वे घर की ओर न जाकर उसी जंगल की ओर जाती है जहा उस चोर का मकान था। राजसेवक बार-बार समझाते है कि तुम्हारा मकान उधर नही, इधर है; मगर वे एक नही सुनती।

राजसेवको ने राजा के पास यह समाचार भेजा। राजा समझ गया कि उन्हे कोई ऐसी चीज खिलाई गई है, जिसकी मादकता के कारण उन्हे वही चोर और वही घर नजर आ रहा है और अपना असली घर नजर नही आता।

अलवत्ता जिनके दिमाग पर उस मादक वस्तु का कम असर था, वे तो होश में आ गई और अपने-अपने घर चली गई, किन्तु जिनके दिमाग पर मादक वस्तु का पूरा असर था, उन्हे उस घर के सिवाय दूसरा घर नजर ही नही आता था।

तव राजा ने वड़े-वडे कुशल वैद्यो को बुलाया और नशा दूर करने का प्रयत्न किया। मगर वह नशा वडा ही गहरा था और उस पर दवा का कोई असर नही हुआ।

सज्जनो ! यह एक दृष्टान्त है। इस दृष्टान्त के मर्म पर आप विचार करेंगे तो मनोरजक आध्यात्मिक रहस्य आपकी समझ में आ ज येगा।

दर्शनमोहनीय कर्म चोर के समान है। जैसे उस चोर ने स्त्रियो का वशीकरण किया था, उसी प्रकार इस कर्म चोर ने ससारी आत्माओ को वशीभूत कर रक्खा है। जैसे उसने औपध खिलाई थी, वैसे कर्म ने मिथ्यात्व रूपी मादक रस पिला रक्खा है। उस औपध के प्रभाव से जैसे वे स्त्रिया अपना घर भूल गई थी, उसी प्रकार यह ससारी आत्माए अपना घर—अपना स्वरूप —भूल गई है। असर को दूर करने के लिए जैसे वैद्यो ने प्रयास किया, उसी प्रकार मिथ्यात्व के असर को दूर करने के लिए गुरु महाराज प्रयत्न करते है। जिनके दिमाग पर हल्का असर होता है, वह गुरु-उपदेश से दूर हो जाता है, परन्तु प्रगाढ मिथ्यात्व का असर हजार वार कोशिश करने पर भी दूर नही होता। गुरु वैद्यराज पुडियाओ पर पुड़ियाए देते है, इजेक्शन पर इजेक्शन लगाते है और डोज़ पर डोज़ देते है, जीवो को होश मे लाने के लिए खून का पसीना एक करते है, किन्तु फिर भी वे प्रगाढ़ मिथ्यात्वी

आत्माए होश मे नही आती और वैद्यो की समस्त कोशिशे बेकार साबित होती हैं।

सज्जनो ! अगर वैद्य उनका नशा न उतार सके तो उनका क्या दोष है ? बेचारी दवा का भी क्या अपराध है ? उनका नशा तो मरने के बाद भी नही उतरने वाला है । द्रव्य-नशा जीवन-पर्यन्त ही रहता है, मगर मिथ्यात्व रूप भाव-नशा तो किसी-किसी का ऐसा होता है कि अनंत काल मे भी नही उतर सकता।

तो आज तीन करण का स्वरूप आपको समझाया गया है । जब तीनों करणो का आत्मा मे आविर्भाव हो जाता है तो आत्मा के उत्थान मे देर नही लगती । उनमे भी अनिवृत्तिकरण तो ऐसा है कि एक बार उत्पन्न होकर सम्यक्त्व की प्राप्ति अवश्य करवाता ही है।

सज्जनो ? आप सम्यक्त्व प्राप्ति का यह क्रम सुनकर अपनी आत्मा में उस दिव्य ज्योति को जगाने का प्रयत्न कीजिए। ऐसा करेंगे तो जन्म-मरण के दुःख से छूटकर अक्षय सुख प्राप्त कर सकेंगे। तथास्तु ।

ब्यावर
१४-९-५६

: ७ :

षड्विध सम्यक्त्व

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः, सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराः पूज्या उपाध्यायकाः ।
श्रीसिद्धान्तसुपाठका मुनिवरा रत्नत्रयाराधका,
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं, कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ।।

धर्मानुरागी सज्जनो !

कल बतलाया जा चुका है कि सम्यक्त्व की प्राप्ति से प्रथम भूमिका का निर्माण आवश्यक है । भूमिका-निर्माण के बिना सम्यक्त्व की प्राप्ति सम्भव ही नही है । जब तक भूमिका शुद्ध नही हो जाती, क्षेत्रशुद्धि नही कर ली जाती, तब तक सम्यक्त्व के प्रादुर्भाव की सम्भावना भी नही की जा सकती । पाच लब्धियां, जो सम्यक्त्व प्राप्ति की भूमिकाए है, जब आत्मा मे जागृत हो जाती है तो सम्यक्त्व की प्राप्ति मे किंचित् भी विलब नही लगता । अतएव उन लब्धियो को प्राप्त करने के लिए सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए । लब्धियो के प्रादुर्भाव के फलस्वरूप आत्मा मे सम्यक्त्व की पात्रता आ जाती है ।

सम्यक्त्व भी एक प्रकार का नहीं, अनेक प्रकार का है। जमी-दार खेती करता है तो एक ही चीज नही बोता। थोड़ी जमीन में मक्की बोता है, दो बीघे मे ज्वार, दो बीघे मे तिल्ली, मूग, मोठ, बाजरा आदि भी बोता है। वह जिस-जिस के बीज बोता है, उसी प्रकार की जिस उसे प्राप्त होती है। किन्तु वह ऐसा बीज नही डालता जो अनुपयोगी हो। जीवन में काम मे आने योग्य बीज ही वह डालता है।

तो नाना प्रकार के बीजो से उसे तरह-तरह की फसलें प्राप्त होती है। किसी से ईख तैयार होती है, जिससे गुड, शक्कर आदि बनाया जाता है, किसी से कपास तैयार होती है जिससे वस्त्र आदि बनते है, किसी से तरह-तरस के खाद्य पदार्थ तैयार होते हैं जो सुधानिवृत्ति के काम आते है।

शास्त्रकार कहते है कि इसी प्रकार सम्यक्त्व भी अनेक प्रकार को है। यद्यपि सम्यक्त्व के अनेक दृष्टियो से अनेक भेद-प्रभेद हैं, तथापि मुख्य रूप से छ भेद बतलाये गये है। शेष सब भेद-प्रभेद उन्ही मे गर्भित हो जाते हैं।

यहा सर्वप्रथम सास्वादन सम्यक्त्व के विषय में कुछ प्रकाश डाला जाता है। शायद आपको पता हो कि औपशमिक सम्यक्त्व अधिक से अधिक भी रहे तो अन्तर्मुहूर्त्त तक ही रहता है, इससे अधिक नही रह सकता। अन्तर्मुहूर्त्त के बाद उस सम्यक्त्व का पतन हो जाता है। तो जो जाव सम्यक्त्व से च्युत हो चुका है किन्तु अभी तक मिथ्यात्व मे नही पहुंच पाया है, जो न समकित भाव मे रहा है और न मिथ्यात्व का रूप ग्रहण कर पाया है, ऐसे जीव के परिणाम की जो मिली-जुली परन्तु पतनोत्मुख विचारधारा है, रुचि है या श्रद्धा है, उसे सास्वादन सम्यक्त्व कहते है।

दूसरा सम्यक्त्व मिश्रसमकित है। प्रश्न किया जा सकता है कि मिश्र नामक तीसरा गुणस्थान है, जो अज्ञानी मे पाया जाता है। ऐसे जीव की रुचि को मिश्रसम्यक्त्व किस प्रकार कहा जाता है? मगर ध्यान रखना चाहिए कि दो वस्तुओ के मेल से जो भिन्न प्रकार की एक वस्तु तैयार होती है, वह मिश्र कहलाती है। अतएव वह शुद्ध सम्यक्त्व नही, पर मिली-जुली होती है। गेहू और चना अलग-अलग धान्य है और अलग-अलग पड़े होने पर उन्हे उनके अलग-अलग नाम से ही कहा जाता है; किन्तु जब दोनो को मिला देते है तो उसका नाम वेजड (पजाब मे वेरडा) हो जाता है। उसकी बनी रोटी मिस्सी रोटी कहलाती है। दोनो के मिल जाने पर उन्हे अलग-अलग नाम से नही पुकारते, किन्तु मिश्र या मिक्स कहते है। यद्यपि दोनो धान्य मिल गये है और उनके मिलने पर उनका नाम भी अलग हो गया है, तथापि दोनो की अपनी-अपनी पृथक् सत्ता का सर्वथा लोप नही हो गया है। उन्होने अपने स्वरूप का त्याग नही किया है। चना चना है और गेहू गेहू है। दोनो एक रूप नही हो गये है, बल्कि अपने-अपने रूप मे ही स्थित है।

इसी प्रकार मिश्र गुणस्थान मे सम्यक्त्व और मिथ्यात्व, दोनो का मेल होता है। वहा आशिक रूप मे सम्यक्त्व भी है और मिथ्यात्व भी है। तो सम्यक्त्व का जो अश है, उसे सम्यक्त्व कहा जा सकता है। मिश्रगुणस्थान वाले जीव की क्रिया मिश्र होती है, क्योकि उसकी परिणति एक नही है। उसका हाल ऐसा होता है कि गगा गये तो गंगादास और जमना गये तो जमनादास। अर्थात् मिश्र सम्यक्त्व वाले जीव बिना पैदी के लोटे के समान होते है। जब एक की बात सुनते है तो कहने लगते है—हा, मेरी समझ मे अच्छी तरह आ गया है। और जब दूसरे ने आकर कान मे मत्र

फूंक दिया तो पहली चीज गायब हो जाती है और वही बात अच्छी लगने लगती है। उसकी दृष्टि एक नहीं होती। मन्दिर पर फहराने वाली ध्वजा जिधर की हवा होती है, उधर ही फहराने लगती है। यही दशा मिश्रदृष्टि वाले की होती है। इधर लम्बी-चौडी मुंहपत्ती बांध कर सामायिक भी करते हैं और उधर लम्बा-चौड़ा चांदला भी लगाते हैं। वे न पूरे हिन्दू है, न मुसलमान है।

इस प्रकार की मिश्रित दृष्टि वाले जीव मिश्र सम्यक्त्वी कहलाते हैं। वे शुद्ध नहीं, मिले-जुले होते हैं। जिसमें मीठा मिला दिया गया है, वह दही न खट्टे में ही, न मीठे मे ही। यही दशा मिश्रदृष्टि की होती है।

त्यागी साधु मुनिराज नगर के बाहर विराजमान हो गये। नगर में घोषणा हो गई कि धर्मघोष मुनिराज या दूसरे मुनिराज पधारे हैं। यह सुनते ही नगरनिवासी नदी की तरह दर्शनार्थ उमड़ पड़े। उन्होंने उनके दर्शन किये और उनकी उपदेशवाणी सुनी। वापिस अपने घर आ गये। मुनिराज विहार भी कर गये। आपने हमें तो चार मास के लिए रिजर्व कर रक्खा है, अतएव आप निश्चिन्त हैं। मगर फ़कीर एक जगह नहीं बैठे रहते। बैठे रहना भी नहीं चाहिए। किन्तु भगवान् ने हमें चार महीने के लिए एक स्थान पर रहने को नियन्त्रित कर दिया है। यों साधु अप्रतिबंध विहारी होते हैं।

साधु को वायु की उपमा दी है और विधान किया गया है कि बिना कारण वह एक स्थान पर न ठहरे। वह ठहरता है तो उसकी हानि ही होती है। अतिपरिचय होने के कारण किसी पर राग और किसी पर द्वेष का भाव आना स्वाभाविक है। अतएव साधु को अप्रतिबंध-विहार होना चहिए।

साधु चार प्रकार के वंधनो से रहित होते है—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप वधन। धन-दौलत, चेला-चेली, वस्त्र-पात्र आदि में मोह होना द्रव्यबन्धन है। यह हमारा क्षेत्र है और यह इतर क्षेत्र है, इस प्रकार की भावना होना क्षेत्रवंधन है। साधु के मन मे ऐसी भावना भी नही होनी चाहिए। साधु को किसी क्षेत्र से नही वधना चाहिए।

सज्जनो! हमें आप से क्या लेना है? जो लेना है तो सभी से लेना है और नही लेना है तो किसी से भी नही लेना है। साधु को तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सिद्धान्त अपनाना चाहिए। एक क्षेत्र को छोड़कर दूसरे क्षेत्र मे नही जाना, यह क्षेत्र प्रतिवध नही तो क्या है? हमें चाहिए क्या? यहा आये तो यहा भोजन-वस्त्र मिल जाता है और पजाव में गये तो पजाव मे भी मिल जाता है। धर्मध्यान तो जहां जायेंगे वहां होगा ही। दूकान मे माल होना चाहिए। माल होगा तो ग्राहक भी आ जायेगे। अगर दूकान में कोई माल ही नही है तो कही भी जाने पर कुछ भी काम नही वनने वाला है।

हा, अगर माल है और यहा नही विकता है तो यह भी नही कि कलकत्ता या वम्वई मे दूकान करना ही नही और यही भूखा मर जाना। यह कोई वुद्धिमत्ता का काम अथवा विचारशीलता नही है।

तो इस प्रकार क्षेत्र-संवधी ममत्व होना क्षेत्रवधन है। साधु को यह नही होना चाहिए।

कई साधु ऐसे भी मिलेगे, जिन्होने, जिस प्रदेश मे जन्म लिया या दीक्षित हुए, उससे आगे की दुनिया देखी ही नही। वे सोचते

है—वहा जाने से न मालूम क्या होगा ! अरे, वहां क्या भेड़िया रहते है जो तुम्हें काट खायेंगे ? साधु को क्या है ? उसकी तो चारो खूट जागीर है । मैंने रतलाम के चातुर्मास से उठकर बवई तक शेष काल में करीब करीब एक हजार मील का विहार किया है । रतलाम से विहार किया तो सोजत सम्मेलन में पहुचे जो रतलाम से अनुमानत. ३०० मील है, इधर उधर घूमते रहे और फिर वहां से करीब ७०० मील का विहार करके बम्बई पहुचे । यह है घुमक्कड़ साधु का जीवन । कहा है—

साधु तो रमता भला ।

भ्रमण करते रहने से तन्दुरुस्ती बनी रहती है और धर्म का प्रचार भी अच्छा होता है । सभव है कोई यह सोचते हो कि उत्तर प्रदेश मे आहार-पानी ठीक रूप से नही मिलेगा, परन्तु यह सोचना ठीक नही । आहार-पानी तो थोड़ा या वहुत प्राय सर्वत्र मिल ही ज ता है । फिर यह भाग्याधीन वात है । कदाचित् कही न भी मिला और क्षुधा-परीषह सहन करना पड़ा तो भी क्या हुआ ? साधु तो फिर भी घाटे में नही, लाभ मे ही रहता है । उससे कर्मो की अधिक निर्जरा होती है । अतएव साधु को क्षेत्र बधन भी त्याग देना चाहिए ।

अमुक समय पर ही गोचरी को जाऊगा और उससे अतिरिक्त समय मे नही जाऊंगा, इस प्रकार के प्रतिबध को काल बन्धन कहते है । शास्त्रो में कहा है कि साधु को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव देखकर प्रत्येक क्रिया करनी चाहिए ।

चौथा भावबन्ध है और वह बडा जबर्दस्त बधन है । आत्मा मे अपनी जड़ जमाये हुए क्रोध, मान, माया, लोभ राग और द्वेष

आदि विकार भरे पडे है। यह भाववधन सदैव आत्मा के साथ रहते है। चाहे कोई हजारों मील दूर चला जाये, फिर भी आपको अपना घर परिवारादि तो याद आते ही रहते है। यह मोहरूप भाववंधन ही का तो कारण है, जब तक मोह आत्मा मे विद्यमान है तो वहा वधन होता ही है।

यह चारो प्रकार के वन्धन आत्मा को धर्म से विमुख करने वाले है।

तो मैं कह रहा था कि मुनिराज आये और विहार भी कर गये। जब लोग वापिस आये तो एक सेठजी भी दर्शन करने जा रहे थे। उन्हे वहीखाता देखने मे देरी हो गई थी। जब वह देखकर निवृत्त हुए तो दर्शन करने चले। रास्ते मे लोगो से पूछने पर पता चला कि मुनिराज तो विहार कर चुके है किन्तु रास्ते मे उन्हे एक मिथ्या दृष्टि वाला व्यक्ति मिल गया। उसने कहा—सेठ साहब, वे चले गये तो क्या हानि है? अभी-अभी बावली वाली बगीची में एक पहुचे हुए महात्मा पधारे है। उनके पास बहुत-से हाथी-घोड़े है और शाही ठाठ है। आप उनके दर्शन कीजिये न?

बस, यह सुनते ही सेठजी की विचारधारा रूपी गाड़ी पलट गई। उन्हे यह विवेक नही कि जिसके पास हाथी-घोडा आदि का ठाठ है, वह महात्मा है कि राजा है? योगी है या भोगी है? कहा तो त्यागमूर्ति सयमधन अनगार और कहा वह त्याग की विडम्बना करने वाला बाबा।

फिर भी सेठ वहा गया और दर्शन कर आया। वह सोचने लगा—अच्छा हुआ कि मुझे महात्मा के दर्शन हो गये। इस प्रकार

उसके विचार इधर भी हो गये और उधर भी हो गये । उसकी विवेक करने की दृष्टि लुप्त हो गई । ऐसी जिसकी मान्यता होती है, समझना चाहिए कि वह मिश्र दृष्टि है । उसकी दृष्टि या रुचि को मिश्र सम्यक्त्व कहते है ।

मिश्र दृष्टि वालो की क्या दशा होती है, यह समझने के लिए एक उदाहरण लीजिये :—

एक वार किसी नगर मे चोर चोरी करने गये । वे एक घर मे घुसे । घर वाली स्त्री ने उन्हे देखा और वह उनके रूप-लावण्य पर अतिशय मुग्ध हो गई । उसकी वुद्धि यहा तक भ्रष्ट हुई कि वह हजारो के वस्त्राभूषण पहने ही उनके पीछे हो गई । उसने सोचा—चोर मुफ्त का माल लाते है और दिल खोलकर उड़ाते है । मै इनके पास रहकर बढ़िया खाऊगी, पिऊगी, पहनूंगी और विषयवासना की भी पूर्त्ति करती रहूगी ।

जव व्यक्ति विषयान्ध हो जाता है तो उसे अपने कुल की और जाति आदि की मर्यादा का भी ज्ञान नही रहता ।

चोर उसे पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुए ।-वे सोचने लगे—सहज ही हजारो के माल के साथ लक्ष्मी की प्राप्ति हो गई । वे आगे चले । रास्ते मे एक गहरी नदी आई । जव वे नदी पाद करने की तैयारी करने लगे तो उन्होने उस कुलटा के विषय में भी विचार किया । उन्होने सोचा—जो स्त्री अपने पति की भी सगी न हुई, जो इसे सात फेरे फेर कर लाया था, जिससे इसने आजीवन आज्ञापालन करने और प्रामाणिक रहने की प्रतिज्ञा की थी और सुख-दुःख मे साथ देने का वायदा किया था, तो यह हमारी कव होने वाली है ।

यह सोच कर उन्होने उस स्त्री के सारे जेवर उतार लिये और कीमती वस्त्र भी न छोड़े ! स्त्री उघाड़े शरीर एकाकिनी

खडी रह गई। वह न इधर की रही, न उधर की रही । न भरतार ही मिला, न जार ही मिला।

उस स्त्री के पश्चात्ताप का पार न रहा। वह सोचने लगी— बड़ा गजब हो गया कि मै कही की न रही ! मुझे अपने जीवन-साथी पति पर श्रद्धा रखनी चाहिए थी। वह मेरे जीवनाधार थे। मगर मैंने विषयान्ध होकर उनके साथ धोखा किया । मैंने सोचा कि चोरो के घर मुझे भोगोपभोग की उत्तम सामग्री मिलेगी और मेरी मनोकामना पूरी होगी। इस मृगतृष्णा मे पड़कर मैंने कुल को कलंक लगाया । उधर पति को छोड आई और इनके साथ हो गई। परन्तु ये इतने निर्दय और निष्ठुर निकले कि मेरे शरीर के वस्त्र भी उतार कर और मुझे इस हालत मे छोड कर चल दिये। प्रभो ! मुझे मार्ग दिखलाओ। अब मैं किधर जाऊ और क्या करू ? इस प्रकार पशोपेश मे पड़ी वह स्त्री दुःख उठा रही है। किंकर्त्तव्यमूढ़ हो रही है।

सज्जनो ! यह चोर तो धन आदि का अपहरण करने वाले है ही, परन्तु मिथ्यात्व रूपी चोर वडा ही प्रवल है। वह ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूपी परम आत्मिक धन की चोरी कर लेता है और आत्मा को उस स्त्री की भाति नगा करके इधर-उधर जन्म-जन्मान्तर मे भटकाता है।

वह स्त्री नये-नये गहने और और कपड़े पहनने के लिए और आनन्द का उपभोग करने के लिए गई थी, किन्तु उसके सारे सपने और मसूवे मिट्टी मे मिल गये। अब वह नग्न रूप मे खडी-खडी पश्चात्ताप कर रही है। न इधर जा सकती है, न उधर जा सकती है। उसकी यह दुर्दशा क्यो हुई ? इस कारण कि उसकी अपने पति पर निष्ठा नही थी।

याद रखना व्यावर वालो ! मै खुले शब्दो में कहूंगा कि यही दशा उन मिश्रपथियो की होगी। अतएव एकमात्र वीतराग देव के प्रति अनन्य निष्ठा धारण करो और श्रद्धा के साथ उन्ही की आज्ञा का पालन करो। एक के प्रति वफादार न रहने से क्या हालत होती है, यह बात इस उदाहरण से समझी जा सकती है। मगर उस स्त्री के तो वस्त्राभूषण ही उतारे गये थे, आप वीतराग देव के प्रति अप्रामाणिक बनोगे तो आपका वीतराग सम्यक्त्व रूपी धन छिन जायेगा, सर्वस्व लुट जायेगा।

इन मिश्रपंथियो को मौत भी नही आती। यह न समझिये कि मै उनके प्रति द्वेषयुक्त भावना प्रकट कर रहा हू। शास्त्रो में विधान है कि जब तक तीसरे गुणस्थान की दशा है अर्थात् मिश्र-दृष्टि है, तब तक आत्मा की मृत्यु नही होती। अर्थात् मिश्रगुण-स्थान मे जीव काम नही करता। वह मृत्युशय्या पर तडप रहा हो तो भी उसे मौत नही आयेगी। जब वह एक तरफ हो जायेगा तभी मौत उसका वरण करेगी। एक तरफ दृष्टि झुक जाने पर ही जीव किसी गति मे जाता है। ऐसा कदापि नही हो सकता कि आधा तो अच्छी गति मे और आधा खोटी गति मे चला जाये। आत्मा किसी भी एक ही गति में जा सकता है और जब एक ही गति में जाना है तो एक ही गति का पूरा-पूरा टिकट भी उसे खरीदना होगा। यह नही होगा कि जिसे यहा से दिल्ली जाना है, वह आधा टिकट तो अहमदाबाद का और आधा दिल्ली का खरीदे और दिल्ली पहुंच जाये। आधे-आधे टिकट से वह किधर भी नही पहुच सकता।

जब आत्मा मे मिश्र अवस्था है यानी अच्छे भाव भी आते है और मिथ्यात्व के बुरे भाव भी आते है, तो वह मर कर किधर

जायेगा ? क्या अच्छे भाव के कारण आधी आत्मा स्वर्ग मे और बुरे भाव के कारण आधी आत्मा नरक मे या अन्यत्र कही चली जायेगी ? ऐसा कदापि नही हो सकता । आत्मा को तो एक ही गति मे जाना होगा । दुनिया मे कहावत है—'एक तरफ हो कर मरो ।' एक तरफ हुए विना जीव मरता भी नही है । किन्तु एक तरफ मे भी मिथ्यात्व की तरफ हो जाना सरल है । एक बार नही, अनेक बार इस तरफ होकर मरे हो, किन्तु समकित की तरफ होकर नही मरे ।

अगर विशुद्ध सम्यक्त्व अर्थात् क्षायिक सम्यक्त्व एक बार भी आ जाये तो जीव उसी भव मे मोक्ष जा सकता है । कदाचित् उसी भव में न जाय तो तीसरे भव मे तो चला ही जायगा । जिस क्षायिक सम्यग्दृष्टि ने अगले भव की आयु का वध न किया हो, वह उसी भव से मुक्ति प्राप्ति कर लेता है । अगर क्षायिक सम्यक्त्व से पहले ही आयु बांध ली हो तो तीसरे भव मे मोक्ष होता है । मोक्ष का टिकट इसी मनुष्यभव से मिलता है । यही से सव गाडिया छटती है । मनुष्यभव सव लाइनो का जकशन है । इस जकशन से पांचो लाइनो की रेले छूटती है । जो नरक के योग्य कार्य करते है, उन्हे नरक मे जाने वाली गाडी मे सवार होना पडता है और एक लाइन पर भी अनेक स्टेशन आते है । जिसने जिस स्टेशन का टिकट खरीदा है, उसे उसी स्टेशन पर उतरना पडता है । जैसे नरक की लाइन पर सात स्टेशन है । कोई जीव पहले नरक का, कोई दूसरे, तीसरे यावत् कोई सातवे नरक का टिकट खरीदता है और उसी स्टेशन पर उतर जाता है ।

दूसरी लाइन देवयोनि की तरफ जाती है । देवगति के योग्य टिकट जिसने खरीद लिया है, वह देवगति की लाइन पर जाने

वाली गाडी में सवार होता है और और अपने टिकट के अनुसार प्रथम आदि किसी देवलोक मे उतर जाता है। मनुष्य श्रावक को बारहवें देवलोक तक का टिकट मिल सकता है। उससे आगे जाने का उसे अधिकार नहीं। जिसे उससे आगे जाना है, उसे त्यागी साधुओ की कतार मे खडा होना होगा। वह रेल साधुजीवन वाले को २६वें देवलोक तक पहुचा सकती है।

अभिप्राय यह है कि मनुष्य जहा का टिकट लेना चाहे, ले सकता है और जहां का टिकट लेगा वही उसे उतरना पडेगा। एक इंच भी उससे आगे नही जा सकता।

तिर्यंच-लाइन का टिकट लेने वाले एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय आदि स्टेशन पर उतरते है।

मनुष्ययोनि का टिकट लेने वाला गर्भज या सम्मूर्छिम अथवा कर्मभूमिज या अकर्मभूमिज आदि का टिकिट लेकर वहां उतर सकता है।

यह चार लाइने तो ससार की है। इन चारो लाइनों पर गाड़ियां आती भी है और जाती भी है। पांचवी लाइन मोक्ष की है। वहा गाडी जाती है, पर आती नही है। जो एक वार वहां जा पहुचा वह वहा से लौटने की इच्छा ही नही करता है, तो फिर गाड़ी आवे किसके लिए ?

इन सभी स्टेशनो पर ओटोमेटिक—स्वत· सचालित—मशीन द्वारा इतनी सावधानी वरती जाती है कि कोई टिकट विना कही भी नही जा सकता। उदाहरणार्थ, तिर्यञ्चयोनि की लाइन पर जाने वाले ने यदि एकेन्द्रिय के स्टेशन का टिकट खरीदा है तो उसे उसी स्टेशन पर उतरना पडेगा और उसमें भी फिर पृथ्वी, अप्, तेज, वायु या वनस्पतिकाय के स्टेशन पर उतरना होगा।

एकेन्द्रिय का टिकट वाला एकेन्द्रिय-स्टेशन पर उतरेगा और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रय और पंचेन्द्रिय टिकट वाला उसी अपने-अपने स्टेशन पर उतरेगा। कोई पहले या पीछे उतरने का दुस्साहस नही कर सकता। पचेन्द्रिय-स्टेशन पर दो प्लेटफार्म है। एक तरफ तो संज्ञी पचेन्द्रिय वाले जीव उतरते है और एक तरफ असंज्ञी पंचेन्द्रिय वाले मुसाफिर उतरते है।

यह मनुष्य-लोक रूपी रेलवे-जकशन इनता विशाल है कि यही से सब तरफ का सीधा टिकट मिलता है। सभी लाइनो का हैड ऑफिस भी यही पर है और सब लाइनो का हिसाब भी यही रक्खा जाता है।

भद्र पुरुषो! चार लाइनो के टिकट कर्मोदय से प्राप्त होते है, क्योकि चारो गतिया उदयभाव मे है—कर्मोदय से प्राप्त होती है। पाचवी मोक्ष की लाइन क्षायिक भाव से है। जब आत्मा चारो लाइनो से विमुक्त हो जाती है, कर्मो का उदय और वेदन आदि सब समाप्त हो जाता है, तब उस लाइन मे जाया जा सकता है। मोक्षगति को बधच्छेद गति भी कहते है।

चारो गतियो मे यहा के बधे हुए कैदी जाते है। कोई कैदी पकड़ा जाता है तो उसके हाथ-पाव हथकडियो-बेडियो मे जकड दिये जाते है और उसे जेल मे भेज दिया जाता है। वह कैदी स्वेच्छा से जेल नही गया है, उसे विवशता से जाना पडा है।

कैदी भी दो प्रकार के होते है—एक राजनीतिक अथवा सत्याग्रही कैदी और दूसरे गुनहगार कैदी। चोरी, जारी, गुडागीरी, अत्याचार आदि निकृष्ट कार्य करने वाले जो गुनहगार कैदी है, उनके लिए अलग प्रकार का कानून है। किन्तु सत्याग्रही कैदियो के लिए कानून कुछ और तरह का है। अनाचार करने वालो से

कठोर काम लिया जाता है उन्हे मारा-पीटा जाता है और जीवनोपयोगी साधनो की सुविधा भी उन्हे नही दी जाती है । शाही कैदियो के साथ ऐसा व्यवहार नही किया जाता । कानून-भग के अपराध में जवाहरलाल जी, पटेल, गाधीजी आदि को गिरफ्तार किया गया । पर उनके हाथो मे हथकडिया नही डाली गई । क्योकि वारट देखते ही वे अपने आपको स्वय समर्पित कर देते थे और खुशी के साथ जेल मे चले जाते थे । वहां उन्हे 'ए' क्लास दी जाती थी । उन्हे नजर कैद किया जाता था । उन्हें अखबार और पुस्तके पढने तथा लिखने की सुविधा थी । भोजन की विशेष व्यवस्था थी और दूसरी सहूलियत की चीजे भी मुहय्या की जाती थी । फिर भी वे कैदी तो थे ही और उन्हे जेल से बाहर जाने की सुविधा नही थी ।

तो मैं कहने जा रहा था कि चारो गतिया कर्मोदय से होती है । बधे हुए कर्म तो भोगने ही पडते है । जीव एक गति से दूसरी गति में तभी जाता है, जब वह गति उदय मे आती है । जो जीव पहले के शरीर को त्याग चुका है, और नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति या देवगति मे जा रहा है, किन्तु अभी वहा पहुचा नही है, रास्ते में ही है, तब भी उसे नरक, तिर्यच, मनुष्य या देव ही कहते है । क्योकि उसकी यह पर्याय समाप्त हो चुकी है । कैदी अभी जेलखाने मे पहुचा नही तो क्या हुआ, जब से वह पुलिस की गिरफ्त मे आ गया है, तभी से अपराधी करार दे दिया जाता है । इसी प्रकार जीव जिस गति मे निकट भविष्य में उत्पन्न हो रहा है, उस गति का उदय उसे हो चुका है, अतएव वह उसी गति वाला कहलाता है, फिर भले ही वह अभी रास्ते मे ही चल रहा है ।

मगर पचमगति का टिकट विचित्र है। चारो गतियो में तो जीव अनन्त वार गया और आया, किन्तु ये लाइने ऐसी जगह पर नही पहुच सकी जहा जाने पर फिर आना न हो, क्योकि इन चारो लाइनो की वधच्छेद गति नही है। परन्तु मोक्ष जाने वाली आत्माओ की वधच्छेद गति होती है। वहा वही जीव जाते है, जिन्होने वन्ध का पूरी तरह छेदन कर दिया हो। इस सम्वन्ध मे कोई भूल नही हो सकती। कोई उधर से इधर या इधर से उधर नही जा सकता।

वन्धच्छेद का मूल सम्यक्त्व ही है। सम्यक्त्व के अभाव मे वन्धच्छेद होना असम्भव है। अतएव जो वन्ध से सदा के लिए वचना चाहते है और वन्ध जीवन दु खों से मुक्ति पाना चाहते है, उनका सवसे पहला कर्त्तव्य यही है कि वे सम्यक्त्व प्राप्त करें।

जैसे रुई के वड़े से वडे ढेर के लिए केवल एक दियासलाई की तूली पर्याप्त है, उसी प्रकार सम्यक्त्व भी एक ऐसी चिनगारी है जो कर्मों के वृन्द के वृन्द जला कर नष्ट कर देती है।

चौमासे के मौसिम मे अगर दियासलाई मे सील (नमी) आ गई हो तो फिर कितनी ही तूलियां रगड-रगड़ कर समाप्त कर दो, चिनगारी प्रज्वलित नही होती। इसी प्रकार जब मिथ्यात्व की सील से जीव की श्रद्धा सील जाती है तो फिर कर्मो को नष्ट करने वाली ज्वाला आत्मा मे उत्पन्न नही हो सकती।

सज्जनो! अव तो वादल भी साफ हो गये है, अत चिनगारी प्रकट होने दो। मिथ्यात्व की सील साफ होने दो। सम्यक्त्व का हुताशन प्रदीप्त होने दो। अभी अनुकूल समय है। थोडी-सी भी आत्म-जागृति की चिनगारी यदि प्रकट हो गई तो फिर सम्यक्त्व आने में देर नही लगेगी।

मैंने कहा था कि मिश्रदृष्टि को मृत्यु भी आलिंगन नही करती।

व्यंग से एक शिक्षक ने कहा—महाराज, मिश्र गुणस्थान अमर है; क्योंकि उसमें जीव की मृत्यु नही होती।

महाराज श्री ने हंसकर फरमाया—इस पर मुझे एक कहानी याद आ गई। एक वार बहुत-से सियार इकट्ठे होकर तालाव के घाट पर पानी पीने गये। पानी बहुत गहराई मे था। अतएव बच्चे और जवान तो अपनी होशियारी से पानी पीकर ऊपर आ गये, किन्तु जब बूढा सियार पानी पीने लगा तो अपने को संभाल न सकने के कारण तालाव में गिर गया। वह खूब छटपटाया। उसने हाथ पैर मारने मे कोई कसर न रक्खी। फिर भी निकलने में सफल न हो सका।

दूसरे सियार यह तमाशा देख रहे थे। उन्होने कहा—भाईजी, वावाजी, मामाजी! अब तो तालाव से निकल आओ। बहुत देर हो गई है।

बडे सियार ने सोचा—अगर मैं इनसे कह दूँ कि मुझसे वाहर नही निकला जाता, तो मेरे चौधरीपन का प्रभाव कम हो जायेगा। मेरी असमर्थता इन पर प्रकट हो जायेगी तो सारा रोव-दाव समाप्त हो जायेगा। अतएव उसने उनके आग्रह करने पर भी कहा—बच्चो! मैं तो अभी नही आता। यह जगह ठंडी है, सुखकारी है और अभी यहीं रहने का जी होता है। ठीक ऐसे ही मिश्रपथि रूप तालाव की गहराई मे से निकला नही जाता है, तभी तो शिक्षक महोदय अपने व्यंग मे मिश्रगुण स्थान को अमर अर्थात् नही मरने वाला वतलाते है। मगर याद रखना यह शास्वत अमर नही है।

हां, तो परिणाम यह हुआ कि उसके साथी चले गये और वह वही दुखी होता रहा ।

मिश्र-दृष्टि वाले जीव कभी इधर और कभी उधर होते रहते है । उनकी एक तरफ दृष्टि नही होती । यह दूसरे मिश्र सम्यक्त्व की बात हुई ।

तीसरा औपशमिक सम्यक्त्व है । अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, तथा मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय और समकित-मोहनीय—इन सात प्रकृतियो के उपशम से उत्पन्न होता है । अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ का ऐसा रग चढता है कि जीवन भर नही उतरता । वह सबसे अधिक तीव्र होता है । उसकी स्थिति यावज्जीवन है ।

जब पहले नबर का लोभ आता है तो जीव न खाता है, न खर्च करता है, किन्तु धन को बढाने मे ही मशगूल रहता है । उसे कोई दान देने को कहता है तो वह चिढ कर उत्तर देता है—देखो जी, आज कह दिया सो कह दिया , आगे फिर कभी मत कहना ।

रतलाम मे सौराष्ट्र के एक सेठ रहते है । वे मुझसे कहते थे—महाराज ! और तो आप सभी कुछ कहना, मगर एक तपस्या के लिए और दान के लिए मत कहना । यह सुनते ही मेरे हृदय को ठेस लगती है ।

हा, तो अनन्तानुबधी के लोभी मरते समय भी लड़के को हिदायत कर देते है कि—देखो, अगर मेरे असली बेटे हो तो धन को खत्म न कर देना । ऐसे अनन्तानुबंधी लोभरूप कषाय वालो का रग जीवन भर नही उतरता । ऐसा जीव सीधा नरक मे जाता है ।

यो तो जब तक वीतराग दशा प्राप्त न हो जाये, तब तक जीव के साथ क्रोध, मान माया और लोभ लगे ही रहते है । किन्तु

उनकी उग्रता, उनका अनन्तानुबंधी रूप बड़ा ही दुखदायी होता है।

अपनी चीज मे सन्तोष न करना और दूसरे की चीज़ हड़पने के लिए तैयार रहना अतिलोभ का कार्य है।

अतिलोभी कभी-कभी व्याज लेते मूल भी खो बैठता है। एक तीन दिन का भूखा कुत्ता खुराक की तालाश में फिर रहा था। लाभान्तराय टूटने से उसे तीसरे दिन किसी दातार से एक रोटी मिल गई। वह उस रोटी को मुंह में दबाये गाँव के बाहर तालाब के किनारे आ गया। उसने सोचा चलो, यहाँ मैं स्वतन्त्रतापूर्वक रोटी खाकर पानी भी पी लूंगा। यह सोच कर वह पानी के नज़दीक आया। पानी पर उसकी दृष्टि पड़ी। दृष्टि पडते ही उसे पानी में अपने जैसा दूसरा कुत्ता दिखाई दिया। उसके मुंह मे भी रोटी थी। वास्तव में दूसरा कुत्ता था ही नही, वह अपनी ही परछाईं देख रहा था। मगर मूर्ख कुत्ते ने यह बात नही समझी और सोचा—पहले उस कुत्ते की रोटी छीन लूं, फिर दोनो रोटियां साथ-साथ खाऊंगा। उसने अपनी रोटी एक तरफ रख दी और परछाईं वाले कुत्ते की ओर मुख करके भौंकने लगा और पानी मे घुस गया। पानी मे घुसा तो परछाईं गायब हो गई और उसे कुछ नही मिला। आखिर वह पानी से बाहर निकला और सोचने लगा—चलो अब अपनी ही रोटी खालें। मगर उसके भोगान्तराय कर्म का ऐसा उदय आया कि उसके पहुचने से पहले ही एक कौआ आकर वह रोटी उठा ले गया और उड़ गया। अब कुत्ता भूख से छटपटाता है और पछताता है, किन्तु उसका कुछ वश नही चलता।

देखिये, अति लोभ के कारण वह अपनी रोटी भी गंवा बैठा। इसी प्रकार अतिलोभ घोर विपत्तियो का कारण है।

जो उक्त सात प्रकृतियों को दवाता है, शमन करता है, या उपशान्त करता है, उसे औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

उक्त सात प्रकृतियों मे से कुछ का शमन किया और कुछ का क्षय किया तो क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है।

पाचवा वेदक सम्यक्त्व कहलाता है। क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति से पूर्व क्षण मे, जब कि जीव समकितमोहनीय के अन्तिम पुद्गलों का रसास्वादन करता है, और दूसरे ही क्षण क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होने वाला है उस समय की जो जीव की रुचि है, उसे वेदक सम्यक्त्व कहते है।

छठा क्षायिक सम्यक्त्व है। जब पूर्वोक्त सातो प्रकृतिया समूल नष्ट हो जाती है, फिर कभी सिर उठाने योग्य नही रहती, तब क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। घास ऊपर-ऊपर से काटा जाता है तो फिर उग आता है, किन्तु जब उसे जड से उखाड़ कर फेंक दिया जाता है तो फिर वह उगने योग्य नही रहता। क्षायिक सम्यक्त्व इसी प्रकार का है। सात प्रकृतियो का क्षय होने पर ही वह उत्पन्न होता है,अत. वह एक वार उत्पन्न होकर फिर नष्ट नही होता। उसके प्राप्त होने पर आत्मा शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है। आगामी भव की आयु वधने से पूर्व ही अगर इस सम्यक्त्व को उपलब्धि हो जाये तो उसी भव मे मुक्ति मिलती है। कदाचित् पहले ही आयु का वन्ध हो गया तो तीसरे भव से अधिक समय तक तो ससार मे रहता ही नही है।

इस प्रकार समकित के मूल छ भेद वतलाये गये है। किन्तु सम्यक्त्व की प्राप्ति उसी आत्मा को होती है, जिसके कपायो ने

मन्दता आ जाती है। पहली अनन्तानुबन्धी की चौकड़ी के सद्भाव मे समकित की प्राप्ति होती ही नही है। दूसरी चौकड़ी की विद्यमानता मे सम्यक्त्व तो उत्पन्न हो जाता है, पर श्रावकपन प्रकट नही होता। दूसरी अप्रत्याख्यानावरण चौकड़ी देशविरति की घातक है। तीसरे प्रत्याख्यानावरण कपाय है। वह देशविरति को भी नही रोकता, सर्वविरति—सयम का वाधक है।

यह वात दूसरी है कि प्रत्याख्यानावरण कपाय के हटे विना ही किसी ने साधु का वेप धारण कर लिया हो, और साधुत्व का दिखावा करता हो, परन्तु साधु का वेप पहन लेने पर भी यदि प्रत्याख्यानावरण कपाय का दौर चल रहा है तो वह वास्तव में साधु नही है। कोरा द्रव्य से साधु है, भावसाधु नही है। कपायों की मन्दता हुए विना साधुभाव की प्रवृत्ति नही होगी।

मगर यह कहने-सुनने की चीज़ नही। यह तो आत्मा से संबंध रखने वाली वात है। एक गृहस्थ वेष वाला भी, यदि भावो से वस्तुत. साधुभाव मे आ गया है, तो भले वह स्त्रियो के वीच में या धन-सम्पत्ति के घेरे मे ही क्यो न वैठा हो, अगर उसके कपायो में मन्दता आ गई है, तो साधुभाव का स्पर्श कर लेता है। इसी कारण पन्द्रह प्रकार के सिद्धो मे 'गृहिलिंग' सिद्धो की भी गणना की गई है। ऐसे जीवो को गृहस्थ के वेप मे भी केवलज्ञान, केवलदर्शन और मोक्ष प्राप्त हो जाता है। यद्यपि वह द्रव्य से साधु नही है, तथापि भाव से साधुदशा में है। इस प्रकार सव कुछ भाव पर निर्भर है, द्रव्य तो वाहर की वस्तु है, जिसका मूल्य भाव की वदौलत ही है, भाव के विना नही।

आपने सुना होगा कि विनीता नगरी मे देवाधिदेव श्रीआदीश्वर भगवान् का पावन पदार्पण हुआ। जनता उमड़-उमड़ कर दर्शनार्थ

आने लगी। बारह प्रकार की परिषद् जब समवसरण मे उपस्थित हो गई तो भगवान् ने देशना प्रारम्भ की। देशना मे भावों का प्रकरण आ गया।

भगवान् ने फरमाया—हे भव्यात्माओ! चार प्रकार का धर्म है—दान, शील, तप और भाव। इनमे से जीव एक की भी यदि भली-भाति आराधना कर ले तो उसे अपार सुख की प्राप्ति होती है। अगर चारो की विधिवत् आराधना करले तब तो कहना ही क्या है? फिर तो खेवा ही पार हो जाता है।

भगवान् ने भाव-धर्म की महत्ता पर प्रकाश डाला। इधर उनके ज्येष्ठ पुत्र, षट्खड के अधिपति भरत चक्रवर्ती अपनी चतुरंगी सेना लेकर और हाथी के हौदे पर विराजमान होकर भगवान् के दर्शन करने और उनकी कल्याणी वाणी से अपने आपको धन्य बनाने के लिए चले। समवसरण मे पहुच कर भगवान् को नमस्कार करके यथास्थान बैठ गये। भावना-धर्म की उत्कृष्टता का विवेचन चल ही रहा था। भगवान् ने भरत को उदाहरण के रूप मे रख दिया। कहा—यह भरत चक्रवर्ती ८४ लाख हाथियो, इतने ही घोडो, इतने हीरथो और ९६ करोड़ पैदल सेना का स्वामी है। सम्पूर्ण भरत क्षेत्र मे उसका अखण्ड एकच्छत्र शासन है। महारभ–परिग्रह के कारणभूत राज्य का सचालन कर रहा है। फिर भी भाव की महत्ता के प्रभाव से इसी भव से मुक्ति प्राप्त करेगा।

भगवान् के इस कथन को सरल और स्वच्छ हृदय के श्रोताओं ने यथार्थ समझ कर स्वीकार किया। उन्होने सोचा-वीतराग के वचन मे सशय के लिए आवकाश ही नही है। उसमे राई भर भी अन्तर नही पड़ सकता। वह सन्देह से सर्वथा परे है।

किन्तु उसी परिषद् मे बैठे हुए एक व्यक्ति को इस बात पर विश्वास न हुआ। वह सोचने लगा—इतनी रानी-रानियो के साथ भोग भोगने वाले, इतने राजाओ पर हुक्म चलाने वाले और महारंभ-समारभ कराने वाले भरत महाराज के लिए कह दिया कि इसी भव से मोक्ष जायेगे! ठीक है, अपने बड़े पुत्र का लिहाज न करेंगे तो किसका करेंगे? इस प्रकार की भावना उसके मन में उत्पन्न हुई और उसने दूसरो के सामने वह प्रकट भी कर दी।

अरे भोले जीव! तूने यह यही सोचा कि जिन्होंने मोहर-छाप लगाई है, वे पूर्ण वीतरागी है, सर्वज्ञ है सर्वदर्शी है, और समस्त जगत-संबंधो से परे हो चुके है।

धीरे-धीरे वात फैलती-फैलती भरत जी के कानो तक चली गई। वह जानते थे कि इस व्यक्ति का सन्देह निराधार है, किन्तु इसे समझाने की पूरी-पूरी आवश्यकता है, अन्यथा भगवान् की आसातना करके बेचारा पाप का भागी होता रहेगा।

आखिर भरतजी ने उसे बुलवाया। तेल से लबालब भरा कटोरा उसे हाथ मे थमा दिया और सिपाहियों को आदेश दिया—तुम इसे सारे शहर मे घुमा कर मेरे पास लाना। मगर रास्ते मे कहीं एक भी बूद तेल की गिर जाये तो वही इसका सिर धड़ से जुदा कर देना। अलबत्ता गुप्त रूप में सिपाहियो से कह दिया कि ऐसा मत करना।

विनीता के ८४ चौको मे खूब आकर्षक सजावट की गई थी। कही प्रदर्शिनी हो रही है तो कही नृत्य और कही गान हो रहा है। जगह-जगह आकर्षक दृश्य दिखाई दे रहे थे।

उस व्यक्ति के पीछे, आगे और बगल मे चार सिपाही नगी तलवारें लिये चलने लगे। वह हाथ की हथेली में तेल का कटोरा

लिये हाथी की मस्तानी गति से चलने लगा। वह आगे बढता जाता था पर सृष्टि से अपनी दृष्टि को समेट कर तेल के कटोरे पर ही केन्द्रित किये हुए था। बाजार और चौक मे क्या हो रहा है, उसे बिलकुल पता नही था। उसका चित्त कटोरे मे ही केन्द्रित था। उसके हृदय मे भय घुसा हुआ है कि कही एक बूद भी नीचे गिर गई तो मेरी गर्दन भी उसी समय जा गिरेगी।

आखिर घूमता-घूमता वह भरतजी के पास पहुच गया। उस समय उसे ऐसा आभास हुआ, मानो गये प्राण पुन. लौट आये है। उसी समय भरतजी ने पूछा—सारी नगरी में घूम आये ?

वह—जी हाँ, आपके आदेशानुसार घूम आया हूँ।

भरतजी—कहो, नगरी के क्या हाल-चाल है ? चौरासी चौकों में से किसमें क्या विशेषता देखी ? किस दुकान की सजावट कैसी थी ?

वह—पृथ्वीवल्लभ! मैंने कही कुछ नही देखा। मेरी विनीता तो इस कटोरे मे समाई थी। मेरी दृष्टि और सृष्टि सारी इस कटोरे मे आ गई थी,।

सिपाही—अजी, सभी कुछ तो तुम्हारे सामने से गुज़रा है। वहा नाच-गान हो रहा था, अमुक जगह प्रदर्शिनी सजी थी, आदि। तुमने कुछ देखा नही ?

वह—तुम्हारे लिए सब कुछ होगा, मेरे लिए तो कुछ भी नही था। केवल कटोरा ही कटोरा था।

भरतजी चाहते तो उसकी जीभ कटवा सकते थे, जीभ पर ताला लगवा सकते थे, शरीर पर नियत्रण कर सकते थे, मगर ऐसा करने से उसके हृदय मे परिवर्त्तन नही आ सकता था। उसे

कारागार मे ठूस देते तो भी उसके हृदय में तो वही भाव लहरें लेते रहते । भीतर चोर घुसा रहा तो वाहर का इन्तजाम करने से क्या लाभ ? फोड़े के अन्दर से जब तक मवाद नही निकलेगा, आराम मिलने वाला नहीं है । वुद्धिमान् डाक्टर वही समझा जाता है जो अन्दरुनी रोग को निकालता है ।

इस प्रकार भरतजी ने उसकी भावना को सुधारने का ही उपाय किया । अन्त मे वह वोले—वाजार मे सव कुछ होते हुए भी तेरे लिए कुछ नही था । तुझे तलवार का भय था । दृष्टि सभी चीजों से विमुख होकर कटोरे में ही केन्द्रित थी । तुझे अपने जीवन-धन की ही चिन्ता थी । ठीक भी है, क्योंकि संसार में मनुष्य को अपना जीवन सर्वाधिक प्रिय लगता है । कोई किसी को करोड़ो की सम्पदा देकर उसके वदले उसका जीवन लेना चाहे तो वह जीवन को ही अधिक मूल्यवान् समझेगा और जीवन नही देगा । जीवन अनमोल है । वह तीनो लोको की सम्पदा के वदले भी दिया-लिया नही जाता ।

आश्चर्य की वात है कि ऐसे अमूल्य मानव जीवन को भी मनुष्य निरर्थक और निकम्मी वातो मे वर्वाद कर रहा है । और न जाने किस पुण्य का उदय आया कि मनुष्य का चोला मिल गया है । इसका सदुपयोग कर लो । इससे आत्मा का कुछ हित-साधन कर लो ।

हां, तो भरतजी उस व्यक्ति से कहते है—जैसे सव कुछ होने पर भी तुम्हारे लिए कुछ नहीं था और कटोरा ही सव कुछ था ; इसी प्रकार मैं चक्रवर्ती हू, छ खंड का स्वामी हू और सव कुछ करते-धरते भी सवसे विमुख हू । मैं इनके साथ भी हू और इनसे

वाहर भी हू । काच पर अनेक प्रकार के प्रतिविम्व पड़ते है, फिर भी काच उनसे भिन्न ही रहता है, उसी प्रकार मै राज्य आदि समस्त चीजो से विलग हू, मेरा मन दुनिया की किसी चीज़ मे लिप्त नही है । जल मे रहता हुआ भी कमल क्या जल से लिप्त होता है ? नही । इसी प्रकार मै इस वैभव के वीच रहता हुआ भी इसे अपना नही समझता । मै इनमे आसक्त नही हू । धाय वालक को खिलाती है और प्रेम जतलाती है, मगर अन्तस् मे समझती है कि यह वालक मेरा नही, मै इसकी मा नही, यह तो पराया है ; इसी प्रकार मेरे मन मे भी निरन्तर यह भावना वनी रहती है कि ससार का कोई भी पदार्थ मेरा नही और किसी पदार्थ का स्वामी मै नही हूं । सव अपने स्वरूप से भिन्न है । जिसने हृदय मे से अनुरागवृत्ति हटा दी, जिसका चित्त ममताहीन हो गया और जो विरक्ति धारण करके व्यवहार करता है, वह ऊपर से भोगासक्त दीखता हुआ भी वस्तुतः भोगासक्त नही होता ।

हे भद्र पुरुष ! मेरी दृष्टि आत्मभाव मे है । मेरे मन मे निश्चय है कि ये पदार्थ और है और मै और हू । न यह मेरे है, न मै इनका हू । अत. मै चैतन्य का ही स्वामी हू, इनका नही ।

वृक्षों पै बैठ पक्षी रजनी गुजारते है,
विछुड़ेंगे सब ही साथी जव होयगा सबेरा ।
तू एकला ही आया किसको समझता मेरा,
एकला ही जायगा तू जब कूच होगा डेरा ।।

प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति को यही समझना चाहिए कि मै अकेला ही आया हू और अकेला जाने वाला हू । ससार के पदार्थ और है, मै और हू । शीशा अलग है और उसमे झलकने वाली वस्तुए अलग है । इसी से वे न्यारी हो जाती है और सदा साथ

नही देतीं । जो जिसकी असली सम्पदा होती है, वह उससे कदापि पृथक् नही हो सकती ।

ससारिक स्थिति मे प्रेम के सगी-साथी यदि कोई है तो वह सिर्फ संयोग सबंध से है । वह सयोग नाशशील है । आज है, कल नही । अब है तो अभी नही है ।

पक्षी वृक्ष पर रात गुजारते है और अपने-अपने माने हुए वृक्षो पर ही बैठते है । एक दूसरे की जगह बैठ जाता है तो उसकी खैर नही । उसे वह चोचें मार-मार कर भगा देता है । किन्तु—

'ना घर तेरा ना घर मेरा, चिड़िया रैन बसेरा, वाली कहावत घटित होती है । कौन कह सकता है कि वृक्ष पर रैन गुजरेगी भी या नही ? गुजर गई तो सुबह होते ही कोई पूर्व में तो कोई पश्चिम मे, कोई इधर और कोई उधर चुग्गे के लिए चल देते है । इसी प्रकार सभी प्राणी अपनी आयु समाप्त कर कर्मानुसार निश्चित अपनी-अपनी गति मे चल देते है । चारगतिरूप दुनिया चलाचली की है । सिर्फ पांचवी गति ही ऐसी है कि जहा गति तो है पर अगति नही अर्थात् वहां जाना तो है किन्तु आना नही है । उसी को प्राप्त करने के लिए ये सब धार्मिक क्रियाकलाप है, साधनाए है । मगर वही साधनाए सफल होती है जिनके साथ सम्यक्त्व होता है । अतएव सम्यक्त्व को प्राप्त करने का ही सर्वप्रथम प्रयास करना उचित है । जो ऐसा करेगे, वे अजर-अमर पद प्राप्त कर अक्षय आनन्द के भागी होगे ।

ब्यावर
१५-६-५६

: ८ :

आचार्य महाराज जुग-जुग जीयें

वीरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो वीरं बुधाः सश्रिताः,
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्यं नमः ।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं वीरस्य घोरं तपो,
वीरे श्रीधृतिकीर्तिकान्तिनिचय. हे वीर ! भद्रं दिश ॥

उपस्थित वन्धुओ तथा-वहिनो !

आज कहने के लिए वहुत ही सुन्दर विचारधाराएँ मेरे मस्तिष्क मे उल्लसित हो रही है । मेरा हृदय, मेरा मस्तिष्क, मेरी रसना और मेरे ज्ञानतन्तु वोलने के लिए इतने उत्कठित हो रहे है कि मैं सहस्रानन होकर वोलू, लक्षवदन होकर हृदय के उद्‌गार वाहर निकालू और जितनी लूट हो सके, आज ही उसे लूट लू ।

आज इतनी उत्कठा क्यो है ? इसका कारण भी आप लोगो को विदित होगा और जिन्हे नही विदित है,उन्हे विदित हो जायेगा ।

आज हमारे आचार्यसम्राट्, श्रमणसघाधिपति, चारो तीर्थो के आधारभूत, प्रात.स्मरणीय आचार्य श्री १००८ श्री जैनधर्म-दिवाकर, शास्त्रवारिधि, आगमोद्धारक, समाजसुधारक श्री आत्मा-रामजी महाराज का शुभ जन्मदिन मनाया जा रहा है ।

भद्र पुरुषो ; निसर्ग का यह अनादिकालीन नियम है—प्रकृति का अटल विधान है कि जगती तल पर अनन्त-अनन्त आत्माए आकर जन्म लेती है और अपना सुखमय या दुःखमय जीवन-यापन करके मृत्यु को प्राप्त हो जाती है। इनमे बहुत-सी आत्माए तो ऐसी होती है जो ससार मे आती है, जन्म लेती है और आयु समाप्त कर चल देती है , किन्तु पड़ोसियो को मालूम ही नही होता कि कोई आया भी था या नही; कब उनका जन्म हुआ, कब और कैसे उन्होने जीवनकाल पूरा किया और कब वे चली गईं ; ऐसा जीवन भी कोई जीवन है ? ऐसे नीरस जीवन का कोई मूल्य नही है।

अनन्त आकाश—मडल मे असख्य तारागण रात्रि मे उदित होते है, चमकते है और प्रभात का सकेत पाकर अस्त हो जाते है। किन्तु पूर्णमासी के दिन उदित होने वाला चन्द्रमा पूर्ण प्रकाश के साथ उदित होता है और अखिल महीमण्डल को आलोकमय बनाता हुआ, अन्त में भी प्रकाश सहित अस्त होता है।

इसी प्रकार ससार में उन्ही आत्माओ का जन्म लेना सार्थक है और उसी का जीवन अनमोल है, जो इस जग मे आकर दुखियो की सेवा करता है तथा देश, जाति और समाज की उन्नति मे सहायक होकर अपने सुयश का सौरभ ससार मे चिरकाल के लिए विकीर्ण कर जाता है। जीवन मिल जाना और बात है और जीवन को वास्तविक जीवन का रूप देना कुछ और बात है। यह ठीक है कि कुछ श्वास रूप वायु ऊपर खीच लेना और बाद मे उसे निःश्वास के रूप मे छोड देना जीवन की परिभाषा मानी जाती है, किन्तु श्वासोच्छ्वास के लेने-त्यागने मात्र ही से जीवन की रूप-रेखा की इतिश्री नहीं हो जाती। अगर इस क्रिया का नाम ही जीवन

है, तो हम देखते हैं कि लुहार की धमनी हमसे कही अधिक वायु ग्रहण करती है और छोडती है। यद्यपि हमारे श्वासोच्छ्वास वायु की प्रमाण मात्रा से मुकाविला नही कर सकते, तथापि उस धमनी मे जीवन नही है। वह निर्जीव है, निश्चेष्ट है और जड है। उसमे किसी की भलाई करने की संज्ञा या भावना नही है। परोपकार करने की उसमे उत्क्रान्ति नही है।

जो जीव मनुष्य शरीर धारण करके भी उसका उपयोग केवल श्वासोच्छ्वास लेने और छोड़ने तक ही सीमित रखता है, धमनी की नाईं, तो मुझे धमनी के लिए इतना अफसोस नही है, क्योकि वह जड है; पर उस मनुष्य के लिए भारी अफसोस है, जो सजीव, सशरीर और मनुष्य होकर भी केवल खा-पी लेने या दुनिया के भोग-विलास मे ही जीवन को व्यतीत कर देता है और जीवन को सही पैमाने से नही नापता, समझो वह निर्जीव धमनी से भी गया-बीता है।

भद्र पुरुषो! उद्यान मे नाना प्रकार के सुगधयुक्त पुष्प कालिकाओ के रूप मे उत्पन्न होते है, ससार के सामने अपनी अनोखी मुस्कराहट दिखलाते है—खिलते है और अततः धराशायी होकर सूख जाते है और विनष्ट हो जाते है।

इसी प्रकार इस परिवर्त्तनशील ससार मे अनेक जीव आते हैं अपना-अपना जोशोखरोश, रोब-दाब, रग-ढग, बुद्धि, चातुर्य, हुक्मो-हकूक, वैभवादि भोगकर अन्त मे मृत्यु का ग्रास बन जाते है। किन्तु उन्ही का आना और जन्म लेना सार्थक है जो पुण्य लेकर आते हैं, अपने जीवन को सद्गुणो से महकाते है, परोपकार आदि करके अपने जीवन की सुगध ससार मे प्रसारित करते है। वे यहा

जीवित रहते भी जीवित है और इस नश्वर संसार से चले जाने के पश्चात् भी जीवित रूप मे ही रहते है। यद्यपि उनका भौतिक शरीर विद्यमान नही रहता, तथापि अपने यश शरीर से वे अमर है। भविष्य की पीढ़िया उनको अपना आदर्श मानकर, पथप्रदर्शक समझ कर उनकी जयन्तियां मनाती है और उनका अनुकरण करके अपने को धन्य समझती है।

चन्दन का टुकडा जब सजीव वृक्ष के रूप मे था, तब भी पथिको को सुवास प्रदान करता था और जब वृक्ष से पृथक् हो गया और सूख गया, सजीव नही रहा, तब भी वह अपनी सुगंध के कण बिखेरता ही रहता है। बल्कि ज्यो-ज्यो वह घिसा जाता है, त्यो-त्यो और भी वायुमडल को विशेष सुगंधित करता है।

और एक नीमवृक्ष का टुकडा है। वह पाप रूप कडवे जीवन में जन्मा, किसी ने उसे चाहा तक नही और निर्जीवता धारण करके भी किसी का उपकार न कर सका, बल्कि थू-थू करवा कर अपयश का भागी बना।

धर्मनिष्ठ पुरुष मानवदेह मे अवतरित होते है तो वे अपना जीवन ससार के प्राणियो के हित के लिए अर्पित कर देते है। वे ससार के लिए आलोकस्तम्भ के रूप मे रहते है और देह का परित्याग करने के पश्चात् भी सहस्रो वर्षो तक नही, बल्कि हमेशा के लिए अपने असाधारण गुणो के कारण जीवित अवस्था मे ही प्रतिभासित होते है। उनकी मृत्यु भी दुनिया मे एक नया रग लाती है।

महात्मा गाधी का ताजा उदाहरण आपके सामने है। उन्होने अपने जीवन मे जो किया सो किया ही, सदियो से परतन्त्रता के पाश

मे जकडे हुए भारतवर्ष को स्वाधीनता का वरदान भी दे गये । पर मरते-मरते भी वे अहिंसा और सत्य के वल पर विरोधी शक्तियों को परास्त करते गये ।

मनुष्य हाड-मांस का पुतला है । इसे अपना जीवन बनाने मे देर लगती है किन्तु विगाड़ने मे, नष्ट करने मे किंचित् भी देर नही लगती ।

कई लोग कहते है—मर जाना ही जीवन की मुक्ति है, परन्तु यह धारणा भ्रमपूर्ण है । वस्तुत. मुक्ति तो पवित्रतम जीवन का अन्तिम विकास है और वह विकास इसी मानव-जीवन में साधा जाता है ।

जो लोग देशद्रोह करते रहे, विश्वासघात करते रहे, संघ और समाज की एकता के उच्छेद के लिए यत्नशील रहे, उनका जीव देश, समाज और सघ के लिए अभिशाप रूप ही सिद्ध हुआ । वे जीवित भी मृतक के समान है । उनके जीवन को वीणा के तार खिच कर नष्ट हो गये । उनमे कोई मधुर झंकार नही रही । और वह वीणा ही क्या जिसके तारो में वशीकरण करने वाला मधुर स्वर झंकृत न हो । वह पिंजारे की धुनने की मृतक तात के समान है, जिसमे स्वय वोलने की शक्ति नही है । वह तो डडे पडने पर ही शब्द करती है ।

हा, जो जन्म लेकर स्वय झंकृत होते है और अपने पडोसियो को भी परोपकारादि गुण रूप मधुर स्वर से अपनी ओर आकर्षित कर लेते है, वे जीवित भी जीवित है और मृत अवस्था मे पहुच जाने पर भी जीवित है । अपकारी जन श्वासोच्छ्वास लेते हुए भी मृत्युशय्या पर है । कवि ने सामान्य भाषा मे जीवन-विषयक महत्त्वपूर्ण वात कह डाली है—

करो पर-उपकार सदा मरे बाद रहोगे जिन्दा ।
नाम जिनका जिंदा रहे उनका तो मरना क्या है ?
बिन धर्म दुनिया में जी के हमें करना क्या है ?
ले के अपयश जो मरे भाइयो तो मरना क्या है ?

कवि अपने भाव व्यक्त करते हुए कहता है कि अगर अपनी लम्बी आयु करना चाहते हो और हमेशा के लिए संसार में जीवित रहना चाहते हो तो परोपकार करो—भलाई करो। किसी की बिगड़ी को बनाओ, रोते हुए को हसाओ और टूटे हुए हृदयो को जोडो। इतना कर लेने पर तुम मर कर भी अमर हो जाओगे। क्योकि जिनका नाम लोगो की जबान पर जिन्दा है, उनका मरना ही क्या है ? हर बशर की जबान पर जिनका शुभ नाम रहेगा, वे मर कर भी जिया करेंगे। जो धर्मी परोपकारमय जीवन-यापन करने वाले होते है, वे मृत्यु से डरते नही, बल्कि सहर्ष मृत्यु का स्वागत करते है। वे समझते है कि मृत्यु का आलिंगन किये बिना हमें करनी का पूर्णरूपेण फल मिलने वाला नहीं है। मनुष्य यहां जो पुण्योपार्जन करता है, मरने के पश्चात् ही उसे स्वर्गीय सुख रूप फल की उपलब्धि होती है। कहावत है कि—'आप मरे बिना स्वर्ग किसने देखा।' अर्थात् मरेगा तभी स्वर्ग की दुनिया का नज़ारा देख सकेगा। जब तक मृत्यु का टिकट जेब से दाम देकर नही ख़रीदोगे, तब तक स्वर्गीय सुख प्राप्त नही कर सकते।

मगर स्वर्गीय सुख भी भौतिक सुख ही है। वह भी मरने पर ही प्राप्त होना है तो मोक्ष नगरी के अक्षय सुख की प्राप्ति मृत्यु का आलिंगन किये बिना कैसे हो सकती है ? मृत्यु की सवारी पर आरूढ़ हो जाओगे तो ही मुक्तिधाम मे पहुंच सकोगे।

धर्मी पुरुष के लिए मृत्यु भयंकर वस्तु नही है। वह तो पापी, अत्याचारी और दुराचारी को ही भयकर मालूम होती है। धर्मात्मा पुरुष अन्तर्मन से यही सोचता है कि दुनिया में जब तक जीवित रहूंगा, तब तक धर्म करूंगा। जब मर जाऊंगा तब भी अपने किये शुभ कर्मो का फल भोगूंगा। इस प्रकार सोच कर वह देह त्याग करते समय भी चिन्ता नहीं करता। कवि ने इसी भावना को इन शब्दो मे प्रकट किया है—

देह त्यागेंगे तो हम देह नई पावेंगे,
जीव मरता है नहीं मरने से डरना क्या है ?
ले के अपयश जो मरें भाइयो तो मरना क्या है ?
बिना धर्म दुनिया में जी के हमें करना क्या है ?

कवि कहता है—अगर किसी का वस्त्र पहनते-पहनते जीर्ण-शीर्ण हो गया है और उसके बदले मे कोई नया सुन्दर वस्त्र देने को तैयार है, तो फिर वह उस क्षत-विक्षत वस्त्र का परित्याग क्यों नही करेगा ? उसे उस फटे-पुराने जीर्ण वस्त्र का त्याग करने मे किंचिदपि सकोच नही होगा या नही होना चाहिए। हा, पुराना वस्त्र त्यागने मे वही दु.ख का अनुभव करेगा जिसने नया वस्त्र नही तैयार किया है अथवा जिसे प्राप्त नही हो सकता। वह दरिद्री तो उसे त्यागते समय यही कहेगा—हाय, मै इसे त्याग दूंगा तो बिलकुल नग्न हो जाऊगा।

आशय यह है कि धर्मी पुरुष को देह त्यागने मे किसी प्रकार की खिन्नता नही होती और आर्त्तध्यान नही होता। क्योकि उसके हृदय मे यह विश्वास बद्धमूल है कि इस जर्जरित काया को तज देने पर मुझे नवीन देह की उपलब्धि हो जायेगी। और यदि मेरी

साधना उच्चकोटि पर पहुंच गई तो अशरीर परमात्मा बन जाऊंगा। दोनो ही सौदे मेरे लिए नफे ही नफे के हैं। दिव्य देह की प्राप्ति भी सुख का कारण है और विदेह-दशा की प्राप्ति भी परम सुख का कारण है।

भद्र पुरुषो ! जो जीव संसार मे आकर संसार की सेवा का बीडा उठाता है और तन-मन-धन से प्राणिमात्र का भला करता है, उसी की जयन्ती मनाई जाती है। उसी के यश का सौरभ दिग्-दिगन्त मे प्रसृत होता है और उसी की आत्मा संसार के लिए अमर हो जाती है। आज भी संसार उनकी जयन्तियां और पुण्यतिथिया महोत्सव के साथ मनाता है, गुणावलिया गाता है और अपनी श्रद्धाजलिया उनके चरणो मे समर्पित करता हुआ अपने जीवन को धन्य मानता है। किन्तु पापी जीवो की—कसाई, डाकू, चोर, गुडे, अत्याचारी, अनाचारी लोगो की जयन्ती कोई नही मनाता। उनका नाम लेना भी लोग अमगल मानते है। वे पापी जीव कीडो-मकोडो की तरह भटक-भटक कर, अपनी जीवनलीला समाप्त कर पुन दुखसागर के उस अन्तस्तल मे में जा पडते है, जहा से निकल पाना भी कठिन हो जाता है।

सज्जनो ! आज इस विशाल पचायती नोहरे के पडाल मे जो चतुर्विध सघ एकत्र हुआ है, उसका उद्देश्य हमारे सघाधिपति, गच्छनायक और चतुर्विध सघ के श्रद्धाकेन्द्र परमादरणीय आचार्य-श्री के जन्म-दिवस के उपलक्ष्म में, उनके श्रीचरणो मे हार्दिक श्रद्धा के सुमन समर्पित करना है। इस शुभ दिन के उपलक्ष्य में आज हम सब के हृदय प्रफुल्लित ही नही हो रहे है, बल्कि आचार्यश्री के प्रति गाढ निष्ठा होने के कारण गद्गद भी हो रहे है।

सज्जनो ! आज आचार्यश्री की जयंति के उपलक्ष मे ३५ बकरे कत्लखाने मे जो कत्ल होने जा रहे थे, उन्हे छोडवाकर बकराशाला में पहुचा दिया गया है। यह महान् अभयदान का काम किया है।

सज्जनो ! आज हम लोग ही असीम खुशी नही मना रहे है, किन्तु उनके पवित्र त्यागमय और तपोमय जीवन की जो करुणा-किरण प्रस्फुटित हुई है, उसने आज के दिन अमर होने वाले ३५ बकरो की भी अन्तरात्मा मे असीम प्रसन्नता उत्पन्न कर दी है। वे भी मुक्तकठ से आचार्यश्री के चरणो मे अपनी नीरव भाषा मे श्रद्धाजलिया अर्पित कर रहे होगे। सच है महापुरुषो के त्याग-तपोमय जीवन का रग सभी प्राणियो मे रग लाने वाला होता है।

किसी भी महापुरुष को ठीक तरह पहचानने के लिए उसके आन्तरिक जीवन-रहस्य को, उसके क्रियाकलापो को और उसके जीवन को उच्चतर स्तर पर पहुंचाने वाले सद्‌गुणो को पहचानना आवश्यक होता है। किन्तु यह सब तभी हो सकता है, जब दीर्घ-कालीन सान्निध्य साधा जाय। इसके अभाव मे उस महापुरुष के बाह्य परिचय से भी एकान्त लाभ ही होता है। अतएव अब मै आपके समक्ष आचार्यश्री का सक्षिप्त जीवन परिचय उपस्थित कर देना उचित समझता हू।

सज्जनो ! आज की जानी-पहचानी दुनिया मे पजाब देश एक नामी देश है। पजाब छोड़े मुझे पाच वर्ष हो चुके है। इस अन्तराल मे मैने मारवाड, मेवाड, मालवा, मेरवाड़ा, महाराष्ट्र, थली, गुजरात और सौराष्ट्र आदि प्रान्तो मे पर्यटन किया। भाति-भाति के दृश्य दृष्टिगोचर हुए, जिनमे प्राकृतिक दृश्य भी थे और कृत्रिम भी थे। प्रान्त-प्रान्त की वेषभूषा का अवलोकन किया और

धर्मानुराग भी देखा। किन्तु सचाई के लिहाज से कहना पड़ेगा कि पजाव जैसा हरा-भरा और सरसब्ज प्रदेश है, वहाँ के अधिकाश निवासियो मे जैसी धर्माभिरुचि और सत्यनिष्ठा है, वैसी अन्यत्र देखने मे वहुत कम आई है। पजाव का पुराना नाम पाचाल देश है। झेलम, चिनाव, रावी, व्यास और सतलज—इन पाच वडी नदियो के वहते रहने से उसका नाम पजाव हुआ। जैसे वहा की जमीन उर्वरा है और पानी से तर रहती है, वैसे ही वहा के जैन भाइयो के हृदय भी भगवान् की वाणी से तर-वतर है और समकित ग्रहण करने योग्य है।

हां, तो पजाव प्रदेश के अन्तर्गत, जालन्धर जिले में राहो नाम का एक कस्वा है। आज वह एक कस्वा है परन्तु किसी समय वह पजाव का महत्त्वपूर्ण नगर था। उस नगर के क्षत्रिय दूर-दूर तक फैले हुए है और ऊचे-ऊचे पदों पर प्रतिष्ठित होकर कार्य कर रहे है। इसी चोपड़ा क्षत्रिय जाति मे आचार्यश्री का भाद्रपद शुक्ला द्वादशी, वि० स० १९३९ को शुभ-जन्म हुआ। आपके पिताश्री का नाम श्री मनशारामजी था और माता जी का नाम रामेश्वरी था। चोपड़ा क्षत्रिय वश मे आपका जन्म हुआ और वड़े ही लाड़-प्यार-दुलार मे लालन-पालन हुआ।

सज्जनो ! पुण्यवान् जीव जन्म लेते है तो सव कार्य निराले ही होते है और पुण्यहीन जन्म लेते है तो मामला कुछ दूसरा ही होता है।

आपके पिता मनशाराम जी लेन-देन (साहूकारी) और आढ़त की दूकान करते थे। वे अपनी जाति मे धनाढ्य एव प्रतिष्ठित व्यक्ति माने जाते थे। माता-पिता ने इस होनहार वालक के लिए

सभी साधन जुटाये थे, किन्तु कराल काल के थपेडों से आपकी माताश्री न बच सकी और आपको छोटी अवस्था मे ही छोडकर मृत्यु को प्राप्त हो गई। सभी जानते है कि माता का प्यार इस ससार की अद्वितीय वस्तु है और उसका स्थान कोई दूसरा ग्रहण नही कर सकता, तथापि आप अपने पिताश्री की वात्सल्यमयी छत्र-छाया मे अपना बाल्यकाल व्यतीत करने लगे। मगर प्रकृति मानो एक महापुरुष का निर्माण करने मे लगी थी। उसने एक सबसे प्रबल ममता के पाश को पहले ही काट दिया था। रहा-सहा दूसरा बन्धन भी काट डाला। जब आप आठ वर्ष की वय के हुए तो पिताजी का वरद कर-कमल भी आपके माथे से हट गया। इस प्रकार प्रकृति ने मोह-ममता को अनायास ही जीत लेने का मार्ग प्रशस्त बना दिया।

भाग्य से आपकी दादीजी जीवित थी। उन्हे इस घटना से कितनी व्यथा पहुची होगी, यह अनुमान करना कठिन नही है। मगर समस्त दु:ख और बालक का उत्तरदायित्व उन्होने अपने कधो पर ओढ़ा और वे सुकुमार बालक की यथोचित सारसभाल करने लगी।

याद रखिये, महापुरुषो की परीक्षा बड़े कठोर और विचित्र ढंग से ली जाती है, कितनेक लोग दुखो से घबरा कर कहते है कि हम इन दुखो से परेशान हुए जाते है। वे यू क्यो नही कहते कि हम इन्सान हुए जाते है। हां, तो वीर उन वज्राघातो से, भयकर आंधी और तूफानो से घबराया नही करते। वे कठिन से कठिन यातनाओ मे भी अडिग रहते है और कहना चाहिए कि वह यातनाएं ही उनमे महत्ता पैदा करती है। दु खो, सकटो और विपत्तियो से वे अपूर्व शक्ति प्राप्त करते है और तभी उनका जीवन श्लाघ्य बनता

है। महापुरुष आने वाली समस्त विपदाओ को चीर-फाड़ कर विजयो होते हैं ओर और दुनिया उनके गले मे विजय-माला पहना कर जय-जयकार करती है।

यद्यपि कई वच्चे, वचपन मे माता-पिता का सिर पर से हाथ उठ जाने पर जीवन से हाथ धो बैठते है, किन्तु कितनी ही आधिया क्यो न आवे, वज्रपात क्यो न हो, और श्यामवर्ण वादल आकर सूर्य के प्रकाश को आच्छादित क्यो न कर ले, मगर उस के प्रकाश को मिटाने में वे समर्थ नही हो सकते। वह प्रखर प्रकाश अन्दर ही अन्दर अपना कार्य करता रहता है।

इसी प्रकार आचार्यश्री के वालजीवन पर वज्राघात होने लगे, फिर भी आप घवराये नही। शुक्ल पक्ष की द्वितीया के चन्द्र के समान आपके जीवन का विकास वढता ही चला गया।

जव आपका वह अंतिम सहारा भी छूट गया तव आपको जीवन मे एक प्रकार का सूनापन-सा प्रतीत होने लगा। 'पुण्यवान् जीव को दुख के दिन भी ज्यादा नही सताते' यही कहावत आपके जीवन में चरितार्थ हुई। आप कारणवश लुधियाना आ गये। वहां सयोगवशात् एक ओसवाल सुश्रावक भाई से आपकी मुलाकात हो गई और वे आपको होनहार और सुपात्र समझ कर स्थानक मे ले गये। उस समय वहा जयरामजी महाराज विराजमान थे। वे अत्यन्त भद्रहृदय एव भावनाशील सन्त थे और वृद्ध होने पर भी जवानो सरीखी हिम्मत रखते थे। उनके हाथ से लिखे अनेक शास्त्र आज भी उपलव्ध हैं। मुझे भी उनके दर्शन और सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

श्रीजयरामजी महाराज ने वालक को लक्षणो से होनहार जान कर उपदेश दिया। आप जानते है कि पूत के पांव पालने में ही

दीख जाते है। यद्यपि आपने जैनकुल म जन्म नही लिया था, किन्तु भविष्य ने जैनधर्म मे दीक्षित होने के लिए आपको आह्वान किया और आप एक ही उपदेश से प्रभावित होकर धर्म पर आरूढ हो गये। आपकी धर्मभावना उत्तरोत्तर वढती ही गई।

सज्जनो! संसार में ऐसे मिथ्यात्वी जीवों की कमी नही है जो दूसरो को धर्ममार्ग से कुमार्ग पर ले जाते है; किन्तु धर्ममार्ग पर लगाने वाले विरले ही मिलते हैं।

आप आनन्दपूर्वक अध्ययन करने लगे। आपकी वुद्धि वड़ी तीक्ष्ण थी, अत. अल्प समय मे ही आपने वहुत-सा ज्ञान हासिल कर लिया। गुरुदेव ने तरह-तरह से परीक्षाए ली। ज्यो-ज्यो वे परीक्षाएँ लेते जाते, उनका विश्वास दृढ़ होता जाता था कि वालक का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है और उसकी योग्यता तथा विरक्ति वडो-वड़ो को भी मात करती है। जव यह विश्वास पूरी तरह दृढ हो गया तो पटियाला रियासत के अन्तर्गत वनूड नगर मे, आषाढ़ शुक्ला पचमी, संवत् १९५१ को शुभ मुहूर्त्त में आपको भागवती दीक्षा प्रदान की गई। आप श्रीशालिगरामजी महाराज के शिष्य घोषित किये गये।

दीक्षित होने के पश्चात् आपकी वैराग्यधारा तीव्र गति से प्रवाहित होने लगी। अध्ययन चल ही रहा था। अल्प काल मे ही आप सस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओ के पण्डित हो गये।

आप गुरु-आज्ञा में रत रहने वाले विनयवान् शिष्य थे। आपको पूर्ण योग्य जानकर अमृतसर मे सवत् १९६९ मे उपाध्याय के सम्माननीय पद से विभूषित किया गया। आपकी शास्त्रीय योग्यता निरन्तर विकसित होती जा रही थी। शास्त्रो मे पारगत

होने के नाते आपको पजाव-सम्प्रदाय का उपाध्याय वनाना अत्यन्त उपयुक्त हुआ। उपाध्याय पद आपने अपनी प्रतिष्ठा के लिए ही नही समझा, वरन् तदनुरूप कर्त्तव्य का पालन करके उसे सार्थक वनाया। अनेक साधुओ और साध्वियो को हार्दिक अभिरुचि के साथ आपने अपने उपार्जित ज्ञान से अनुगृहीत और लाभान्वित किया।

आपके ज्ञान और चारित्र की प्रख्याति निरन्तर बढ़ती जा रही थी। स्यालकोट मे श्री लालचद जी महाराज के जयन्ती-उत्सव के समारोह के अवसर पर आपको 'जैनधर्मदिवाकर' की पदवी प्रदान की गई।

आप जव रावलपिंडी पधारे तो श्री जवाहरलाल नेहरू ने, जो आज भारत के प्रधानमत्री पद पर प्रतिष्ठित है, आपका उपदेश सुना। प्रसगोचित उपदेश सुनकर नेहरू जी वड़े प्रसन्न हुए।

पूज्य श्री काशीराम जी महाराज मारवाड, महाराष्ट्र, गुजरात, सौराष्ट्र, आदि देशो मे भ्रमण कर उदयपुर, अहमद नगर, वम्वई, राजकोट आदि नगरो को चातुर्मासों का लाभ देकर पुन: पजाव पधारे तो आपका अंवाला मे स्वर्गवास हो गया। उनके कार्य को यथावत् संचालित करने के लिए चारो ओर दृष्टि दौड़ाई गई। सवकी दृष्टि एक ही ओर केन्द्रित हुई और सव एक ही ओर आकर्षित हुए। चतुर्विध सघ ने परमोत्साह के साथ आपको ही संघ-नौका का कर्णधार चुना। चैत्र शुक्ला त्रयोदशी, स० २००३, रविवार के दिन, महावीर जयन्ती के पावन प्रसंग पर लुधियाने मे आप पंजाव सम्प्रदाय के आचार्य पद पर आसीन हुए।

मगर प्रकृति को यह स्वीकार नही था कि आपका सुयश नामकर्म यही तक सीमित रहे। आपके सुयश को अखिल भारतीय

स्थानकवासी जैन चतुर्विध सघ के हृदयो मे भी प्रविष्ट होना था। अतएव सूर्य के उस प्रकाश को चारों दिशाओ मे फैलाने के लिए समय ने करवट ली। वक्त का तकाज़ा हुआ और समाज की माग हुई कि जिस साम्प्रदायिक बाडाबंदी ने संघ के उत्थान मे बाधा पहुचाई है और प्रेमभाव को एक सकीर्ण सीमा मे आबद्ध कर दिया है, उसे उखाड़ कर फेक देना चाहिए। आप सब भलीभाति जानते है कि श्रमणसघ के निर्माण से पहले किस प्रकार पारस्परिक वैमनस्य फैला हुआ था और किस प्रकार लोग एक-दूसरे को नीचा दिखलाने का प्रयत्न किया करते थे। एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय को लाञ्छित और अपमानित करने मे कुछ भी कसर शेष नही रखता था। मैने स्वयं गदी भावनाओ और भाषा वाले पैम्फलेट साधुओ को झोली मे लिये देखा है।

जब वातावरण इस प्रकार दूषित हो रहा था, समाज अवाछनीय सघर्ष का शिकार बन रहा था और विषाक्त वायु सर्वत्र फैल रही थी, उस समय अनेक समाजोद्धारक धर्मप्रेमी सज्जनो ने टूटी हुई कडियो को जोड़ने और सगठन की पवित्र शृंखला बनाने का बीड़ा उठाया। परिणामस्वरूप राजस्थान के सादडी नगर मे सगठन का शुभ श्रीगणेश हुआ। त्यागी मुनिराज भी उस दावानल से झुलसे हुए थे। वे शान्ति-स्थापना के हेतु दूर-दूर प्रदेशो से विविध प्रकार के परीषह सहन करते हुए, भविष्य की समुज्ज्वल सम्भावानाओ को समक्ष रख कर संगठन की पवित्र भूमि मे प्रविष्ट हुए और पारस्परिक मत्रणा एव विधाननिर्माण मे सलग्न हो गये।

विधान बन गया और श्रमणसघ की सस्थापना का निश्चय हो गया। उस समय सर्वोपरि सघाचार्य बनाने का प्रश्न उपस्थित हुआ। उस समय सम्पूर्ण सन्तवर्ग की दृष्टि आपकी ही ओर आकृष्ट

हुई। फलतः आप ही श्रमणसंघ के आचार्य सर्वसम्मति से निर्वाचित हुए। सबने आपको ही अपना भाग्यविधाता चुना। इस प्रकार अक्षयतृतीया के दिन आपश्री को आचार्य पदवी प्रदान की गई और आपके सहयोगी के रूप में योग्य, गुणवान् और विचक्षण पूज्य श्री गणेशीलाल जी महाराज को उपाचार्य पदवी से विभूषित किया गया। सहस्रो धर्म-प्रेमियो के कंठ से उद्गत जयजयकार के तुमुल नाद से गगनमण्डल गूंज उठा।

आप दोनो ही पूज्यवर हमारे लिए पूजनीय, समादरणीय तथा अनन्य श्रद्धा के भाजन हैं। दोनो श्रीसंघ के मस्तक के नयन-युगल है। दोनो नेत्रो के प्रति हमारी पूरी-पूरी श्रद्धा होनी चाहिए। इन नयनो के द्वारा ही हमारा समीचीन पथप्रदर्शन हो सकेगा।

याद रखना सज्जनो ! इन आखों में धूल डालने की कोशिश की तो पथभ्रष्ट हो जाओगे। अतएव इनकी पूरी-पूरी हिफाजत करो। इन आँखो में रेत डालने पर किसी दूसरे का कुछ नही बिगडेगा। अगर पथभ्रष्ट होना पड़ा तो हमे ही होना पड़ेगा। हानि होगी तो हमारी ही होगी, अतएव अगर कोई व्यक्ति ऐसे महापुरुषो के प्रति दुर्भावना रखता है तो वह श्रमणसघ का विद्रोही है, घातक है और जिनशासन की अवहेलना करने का अपराधी है। दोनो महापुरुषो की आज्ञा का पालन करो और उनका सम्मान करो।

भीनोसर मे वृहत्साधु-सम्मेलन के अवसर पर आचार्यश्री और उपाचार्य श्री की स्वर्णजयन्ती मनाई गई। हजारो व्यक्तियो ने दोनो महानुभावो को विनयपूर्वक हार्दिक श्रद्धाञ्जलिया समर्पित की। आचार्यश्री वृद्धावस्था के कारण तथा नेत्रज्योति मन्द पड़ जाने

के कारण सम्मेलन मे उपस्थित न हो सके, किन्तु उनका शुभाशीर्वाद हम सवके साथ था। अतएव वहा भी हम सबने दृढता-पूर्वक सगठन को विशेप रूप से मजबूत बनाने के लिए ही प्रयत्न किया।

आचार्यश्री ने जो विशाल अध्ययन किया और ज्ञान प्राप्त किया है, उसका लाभ उनके समीपवर्त्ती साधुओ को ही मिला हो, यह वात नही है। उन्होने अपने अनमोल जीवन-काल मे अथक परिश्रम करके ६२ छोटे-वड़े ग्रथो का निर्माण और सम्पादन किया है। उनमे अठारह आगम है और शेप ऐसे उच्चकोटि के ग्रन्थ है जिन्हे पढने से पाठको की श्रद्धा मजवूत होती है। वे ग्रन्थ सरलतापूर्वक जैनधर्म के सिद्धान्तों का वडा ही सुन्दर वोध प्रदान करने वाले है। जैसे स्व० पूज्य श्री अमोलक ऋषि जी महाराज द्वारा लिखित 'जैनतत्त्व प्रकाश' स्थानकवासियो के लिए त्राणस्वरूप है इसी प्रकार आचार्यश्री द्वारा लिखित 'जैनतत्त्व-कलिका विकास' नामक ग्रन्थ भी जिसने एक वार पढ लिया, उसकी श्रद्धा दृढ हो जाना कोई वडी वात नही।

इस प्रकार आपने एक नही, साठ ग्रन्थो का निर्माण किया है और ज्ञान का अलौकिक आलोक इस लोक मे प्रसारित किया है। अतएव हे पूज्य गुरुदेव! आचार्य सम्राट्! हम आपको पुन-पुन. प्रणाम करते है और अपनी असीम आन्तरिक श्रद्धा के शुचि सुमन आपके पावन पद-पद्मों में अर्पित करते है।

पूज्य आत्माराम जी स्वामी तुमको लाखो प्रणाम ॥टेक॥
आत्माराम है नाम आपका, नाशक है यह तीनो ताप का,
नाम पिता का मनसाराम, तुम० (१)

धन्य २ माता जिसने जाया निज कुक्षि को सफल बनाया,
पुत्र गुणो की खान, तुमको लाखों प्रणाम (२)

राहों नगर में जन्म है पाया सखियो ने मिल मंगल गाया,
उदय हुआ जिम भान, तुमको ...... (३)

रामेश्वरी देवी तुम माता जग में अति हुई विख्याता,
पतिव्रता गुण धाम, तुमको ...... (४)

हुआ वैराग संसार छोड़ा, सब दुनिया से नाता तोड़ा,
चाहते है निर्माण, तुमको .... (५)

बाल पणे में दीक्षा धारी, आप है पूरण बालब्रह्मचारी,
सबका चाहते है कल्याण तुमको ...... (६)

ज्ञानाध्ययन में चित्त लगाया,उपाध्यायश्री का था पद पाया,
संस्कृत प्राकृत के विद्वान तुमको ...... (७)

वृहद् सम्मेलन जब था भराया आपश्री को आचार्य बनाया,
हम करते है गुण गान, तुमको . .... (८)

प्रेम मुनि तुमरे गुण गाता संघोन्नति तुमसे चाहता,
यही दो वरदान, तुमको लाखों प्रणाम। (९)

भद्र पुरुषो ! यह एक महान् सन्त-सत्तम का यशोगान है। पुण्य-पुरुष की प्रशस्ति है। उसकी गुणगरिमा का अन्तरतर से उद्गीर्ण गौरव-गान है। इसमें आचार्यश्री के सद्गुणों का जो चित्र खींचा गया है, वे हम सबके लिए अनुकरणीय है। वास्तव में उनकी भद्रता, सरलता, निरहकार वृत्ति, प्रखर पाण्डित्य और माधुर्य सराहनीय है।

तो वहुत सुन्दर है किन्तु मिरगी का दौरा आता है तो समझो वह सौदर्य किस काम का है, ठीक ऐसे ही यदि वक्ता मिथ्यात्व का उपदेश देता है तो उसके वाक्-पटुत्व का कुछ भी मल्य नही ।

सज्जनो, मिरगी का रोग बडा भयानक होता ह । दिल्ली से परली ओर जमना पार की बात है वहा लहारासराय नामक एक गाव है । उसमे आशाराम नामक एक जैन सेठ सर्राफी की दूकान करते थे । वह बड़े ही ईमानदार और धर्मनिष्ठावान थे । कोई भी दूकान पर चला जाये पुरुष या स्त्री, बहुत होशियार या एक सीधा सदा मनुष्य, वे सबके साथ एक-सा व्यवहार और व्यापार करते थे, अर्थात् उनका व्यापार प्रामाणिकता को लिये हुए था । उनके पास उनका एक भणेज भी रहता था । सेठ जी ने उसे पढा-लिखा कर होशियार कर दिया था, उसकी शादी का प्रबध भी आशाराम जी ने ही किया था । जब उसके भणेज की बारात । रवाना होने लगी तो वह मेरे गुरु महाराज जी के पास पहुचा गुरु महाराज चातुर्मास रूप से वही विराजमान थे । महाराज श्री से मागलिक फरमाने को कहा और साथ ही कहा कि मै भानजे की शादी करने जा रहा हू । किन्तु गुरुदेव ! बीच मे उपद्रव होगा । सेठ जी को सत्यता के कारण भविष्य मे होने वाली बातो का पहले ही अनुभव हो जाता था, मैने सेठ जी के कई अनुभव स्वय देखे है ।

बारात रवाना हुई और आगे गई तो वर्षा होने से नदी मे पानी चढ आया । रास्ता बद हो गया और बहुत देर तक जगल मे परेशान होना पड़ा । जब पानी उतरा तो जैसे-तैसे बारात आगे चली और गाव मे पहुची । फेरे के समय फेरे होने लग तो लड़के को अकस्मात् दौरा आ गया और गश खा कर वह मूर्छित हो

गया। यह देख कर लड़की वाले को शंका हो गई कि लड़के को मिरगी का दौरा आता है। शादी करूं तो कैसे करूं !

लड़की के पिता को सेठ आशारामजी पर पूर्ण विश्वास था। अतः वह उन्हीं के पास भागा आया। उसने सेठजी से कहा—सब कहते हैं—लड़के को मिरगी का दौरा आता है। क्या यह सच है ?

आशारामजी ने कहा—लड़का वर्षों से मेरे पास रहता है। आज से पहले कभी उसे दौरा नहीं आया। किन्तु मैं नहीं कह सकता कि यह कैसा दौरा है ? सम्भव है, पहली वार आज ही मिरगी का दौरा आया हो। रोग का प्रारम्भ तो कभी न कभी होता ही है।

सज्जनो ! इतनी स्पष्ट बात कह देना कितनी बड़ी ईमानदारी है ? दूसरा होता तो क्या ऐसा कहता ? वह तो मुद्दत से आने वाले दौरे को भी छिपाने की बात कहता !

मगर सेठ आशाराम ने भविष्य का बोझ अपने सिर नहीं लिया और स्पष्ट कह दिया—आप उचित समझें तो विवाह कर दें, अन्यथा हम वापिस चले जायेंगे।

इस सचाई और स्पष्टता का प्रभाव यह हुआ कि लडकी वाले ने समझ लिया—यह मिरगी का दौरा नहीं, शायद गर्मी के कारण गश आ गया है ! उसने प्रेमपूर्वक शादी की और बारात रवाना कर दी।

आशय यह है कि लड़का सब तरह सुन्दर है, मगर उसे यदि मिरगी का दौरा आता है तो वह न मालूम कब और कहां खड्डे में पड सकता है ? फिर भी उसका तो इलाज हो सकता है ; मगर मिथ्यात्व रूपी मिरगी की बीमारी का इलाज जन्म-जन्मान्तर में भी होना कठिन है !

मैं कहने जा रहा था कि तिष्यगुप्त वडा बुद्धिमान् था, होनहार था ; किन्तु मिथ्यात्व रूपी मिरगी का शिकार हो गया। उसकी श्रद्धा विपरीत हो गई। अतएव वह खुशी-खुशी गच्छ से बाहर निकल गया और उसने यही सिद्धान्त बना लिया कि जीव का अन्तिम एक प्रदेश ही जीव है। वह ऐसी ही प्ररूपणा करने लगा।

उसे कुछ चेले भी मिल गये आप जैसे। आपका भी तो प्राय. यही हाल है कि जिसने जो कुछ भी कह दिया, सो आपने हा-हां कर दिया।

एक गुरु ने शिष्य से कहा—देख चेला, रात को बूंदे पडी।
चेला बोला—खमा घणी, सत्य वाणी !
गुरु—एक-एक बूंद सवा-सवा मन की पड़ी।
चेला—तहत वाणी, सत्य वचन !

मैं कहता हूं—चेले ने गुरुजी से यह भी तो पूछा होता कि जिन पर वह बूंदे पडी, उनमे से कोई वचा भी या सब खत्म हो गये ? ऐसी बूंदो से तो प्रलय हो जाता !

सज्जनो ! बात को समझने का प्रयत्न करो। केवल खमा घणी या सत्य वाणी कहने से काम नही चलता। तर्क करने और प्रश्न पूछने का भी साहस होना चाहिए। नही तो यही हाल होता है :—

दस बोगा दस बोगनी, दस बोगे का बच्चा।
गुरुजी तो गप्पां मारे, चेला जाणे सच्चा॥

अतएव श्रद्धा के साथ ज्ञान और विवेक भी चाहिए। तभी सुने हुए उपदेश से लाभ उठाया जा सकता है।

तो तिष्यगुप्त गच्छ से वहिष्कृत होकर इधर-उधर घूमने लगा और लोगो के सामने अपनी प्ररूपणा करने लगा। घूमता-घूमता कभी वह आमलकल्प नामक नगर मे पहुच गया। वहां भी उसने अपने सिद्धान्त का प्रचार किया। उस नगर मे सुमित्र नामक एक श्रावक रहता था। वह जिनाज्ञा में रत और अटल श्रद्धावान् था। वह तीर्थंकरो की दृष्टि को भलीभाति समझने वाला श्रावक था—हा मे हा मिलाने वाला भोदू नही था।

एक दिन तिष्यगुप्त उसी श्रावक के घर गोचरी के लिए पहुच गया। सुमित्र को मालूम था कि यह श्रद्धा से भ्रष्ट और गच्छ से वहिष्कृत साधु है। अतएव उसने तिष्यगुप्त को नमस्कार नही किया। फिर भी श्रावक का घर आहार-पानी के लिए सदा खुला रहता है। अतएव उसने आहार-पानी ग्रहण करने का अनुरोध किया।

सज्जनो! आज हम अजीव हालत देखते है। जो गुरु की आज्ञा माने तो भी घणी खमा और जो न माने तो भी घणी खमा! क्या यह आज्ञापालन कहलाया? गुरु की आज्ञा पालने वाले को भी वही प्रतिष्ठा और न मानने वाले की भी वही प्रतिष्ठा होगी तो किसी को संघाधिपति की आज्ञा मानने की आवश्यकता ही क्या रही? सघ से पृथक् रहने पर भी अगर ज्यो का त्यो मान मिलता रहा तो उसे सघ मे सम्मिलित होने और गुरु के निर्देश मे रहने की तमन्ना क्यो हो सकती है? किन्तु मैं यह कहता हू—यदि सघ से पृथक्कृत साधु सोने का बनकर आवे और वेले-वेले पारणा करता हो, मगर वह यदि भगवान् की आज्ञा का विराधक है, अनुशासनहीन है तो साधु के योग्य सम्मान का पात्र नही है। भगवान् ने कहा है—'आणाए धम्मो, आज्ञा मे धर्म है और आज्ञा भंग करना पाप है।

अपने शरीर को सुखा देने पर भी वह आज्ञा-आराधन रूप धर्म की प्राप्ति नही कर सकता ।

हमने श्रमणसघ बनाया और बिखरी लडियों को जोड़ा । मगर कई तमागवीन उसे भी तोडना चाहते है और अपने मनोरथ को पूरा करने के लिए प्रयत्नशील देखे जाते हैं । किन्तु ऐसा करना उचित नही है, सघ व्यवस्था सुसगठित बनी रहने मे ही हित है । शास्त्रकार फरमाते है कि जो गुरु की आज्ञा का पालन करते है, वे अनन्त तीर्थकरो की आज्ञा का पालन करते है ।

हा, तो सुमित्र श्रावक ने तिष्यगुप्त को आहार-पानी ग्रहण करने के लिए निवेदन किया । उसने मन मे विचार किया कि इन्हे मिथ्यात्व का छीटा लग गया है, किन्तु श्रावक माता-पिता के समान होते है और डिगे हुए को रास्ते पर लाते है । मै भी इन्हे सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करूं ।

आज तो कई ऐसे नाम मात्र के श्रावक भी मिलते है जो ठीक श्रद्धावान् को भी डिगा देते है और अपना उल्लू सीधा करते है । कितने ही गृहस्थ आज साधुओ से मत्र-तत्र पूछते है । हा, पूछते उन्ही से है जो ऐसी चीजो मे रस लेते है । भैस का पाडा अर्थात् कट्टा भी भैस का रुख देखकर ही उसके पास दूध चूघने जाता है । अगर वह अपनी माता भैस की आंखो मे लाली देखता है तो मालिक कितनी ही कोशिश करे, वह उसके पास नही फटकता । कमजोर पर ही भूत का असर होता है । जो पक्का है, भूत उसका कुछ भी बिगाड नही कर सकता । जो साधु अपनी साधना मे कच्चे होते है और लौकिक बातो मे रस लेते है, लोग उन्ही से ऐसी बाते पूछते है ।

हा, तो श्रावक का कर्त्तव्य है कि यदि साधु गलत रास्ते पर जा रहा हो तो उसे सही रास्ते पर लाने का अपनी योग्यतानुसार प्रयत्न करे। और यदि श्रावक कुपथ पर जा रहा हो तो साधु उसे सभाले।

सज्जनो ! मै आपको ऊचा आसन—सम्यक्त्व—प्राप्त कराने मे कोई कोर-कसर नही रख रहा हूं। अगर गुरुकृपा का वरदान मिलता हो तो उसे अवश्य ले लेना चाहिए। चूकना नही चाहिए। व्यावर वालो ! गुरु कृपा-प्रसाद वांट रहे है, उसे ले लो। गुरु-कृपा को वटोरने में ही लाभ है। उसे ठुकराना सद्भाग्य को ठोकर मारना है।

हां, तिष्यगुप्त ने जब आहार के हेतु पात्र सामने रक्खा तो सुमित्र श्रावक ने एक दाना चावल का और एक सीथ दाल का डाल दिया। यह देखकर तिष्यगुप्त चकित हो गया और सोचने लगा—यह क्या मामला है ? उसने कहा—श्रावकजी ! क्या उपहास कर रहे हो ?

श्रावक ने सहज भाव से कहा—नही महाराज ! मै मजाक नही कर रहा हू। मैंने आपके सिद्धान्त के अनुसार पूर्ण आहार वहराया है। इससे तो आपके मत का समर्थन ही होता है। आपको इसमे कोई आपत्ति नही होनी चाहिए। क्योकि मैंने इस समय अपना सिद्धान्त छोड़कर आपके सिद्धान्त के अनुसार ही प्रवृत्ति की है।

तिष्यगुप्त को क्रोध हो आया। वह वोला—अरे ! तू मेरा उपहास करके भी धृष्टता प्रदर्शित कर रहा है ? क्या एक सीथ चावल और एक सीथ दाल वहराना मेरा सिद्धान्त है ?

सुमित्र ने कहा—महाराज ! आप आत्मा के असख्य प्रदेशों मे से एक अन्तिम प्रदेश को ही पूर्ण आत्मा मानते है और ६३ पैसो की उपेक्षा करके ६४वे पैसे को ही रुपया कहते है। तो जितने पैसे पास मे होगे, उतना ही तो माल मिलेगा ! अगर आप पूरे प्रदेशो से सयुक्त जीव को जीव माने तो आपको आहार भी पूरा मिल सकता है। जब आप एक अन्तिम प्रदेश को ही पूर्ण जीव मानते है तो एक दाने को पूर्ण आहार क्यो नही मानते ? आपके सिद्धान्त से तो यह आहार पूर्ण से भी अधिक है ; क्योकि आपके माने हुए प्रदेशो की अवगाहना अगुल के असख्यातवे भाग मात्र की है, जब कि एक दाने की अवगाहना अगुल के सख्यातवे भाग की है । इस प्रकार जीव की अवगाहना की अपेक्षा यह आहार असख्यात गुणा अधिक है ।

सुमित्र श्रावक का यह युक्तिपूर्ण कथन सुनकर तिष्यगुप्त को एक नई दिशा मिली । उसके आगे एक नया प्रकाश चमका । आप जानते है कि जीव के अध्यवसाय कभी चढ़ते है और कभी गिरते है। सदा समान नही रहते । साइकिल सीखने वाला कई वार गिरता है और फिर चढता है । सीख लेने के वाद तो वह दोनो हाथ छोडकर भी साइकिल चला लेता है ।

तो श्रावक ने ऐसे मौके पर ऐसी असर करने वाली बात कही कि तिष्यगुप्त की दोनो आँखे खुल गई । उसने कहा—वास्तविक वात तो यही है कि आत्मा एक प्रदेश रूप नही, वल्कि असख्य प्रदेशमय होनी चाहिए ।

इस प्रकार तिष्यगुप्त की श्रद्धा ठीक हो गई । उसने श्रावक का उपकार माना । सुमित्र श्रावक ने भी मुनि को वन्दन-नमस्कार करके क्षमा याचना की ।

भद्र पुरुषो ! तिष्यगुप्त को गुरु ने हर तरह समझाया, तव वह नहीं माना क्योकि तव मिथ्यात्व का जोर था। मिथ्यात्व शमन होने पर श्रावक ने अपनी विचक्षणता से तत्काल समझा दिया और डूबते को पार लगा दिया। कभी-कभी स्कूल मे पढ़ने वाले विद्यार्थी को जो वात विश्वविद्यालय का चासलर नही समझा सकता, वही वात एक छोटा अध्यापक समझा देता है।

कहने का आशय यह है कि मिथ्यात्व का उदय होने पर जीव समीचीन श्रद्धा से भ्रष्ट हो जाता है। यह द्रव्य-आत्मा के सम्बन्ध की चर्चा हुई। अव कषायात्मा पर थोड़ा विचार करे। क्रोध, मान, माया और लोभ कषायात्मा कहलाती है। जीव जव क्रोध आदि किसी भी कषाय में प्रवृत्त होता है, तव वह कषायात्मा कहलाता है। इसी प्रकार जव मनोयोग आदि किसी योग में जुट जाता है, तव योग-आत्मा कहलाता है। जव आत्मा किसी वस्तु मे उपयोग लगाता है, उसे उपयोगात्मा कहते है। आत्मा जव अपने स्वाभाविक ज्ञान-स्वरूप मे रमण करता है, तव ज्ञानात्मा कहलाता है। आत्मा रूपी भ्रमर जव ज्ञान की अशोकवाटिका की सुरभि लेने लगता है, तव वह ज्ञानात्मा के रूप में है। आत्मा का व्यापार जव दर्शनोपयोग मे होता है, तव दर्शनात्मा कहलाती है और जव उसका व्यापार सामायिक आदि चारित्र साधना मे होता है, तव चारित्रात्मा कहलाती है। चारित्रात्मा की विद्यमानता वही हो सकती है, जहाँ वल या शक्ति है। वही वीर्यात्मा कहलाती है। जैसे पूंजी के विना व्यापार नहीं हो सकता, उसी प्रकार वलवीर्य के अभाव मे चारित्र सम्भव नहीं है। जहां चारित्रात्मा है,वहा वल-वीर्य आत्मा का होना अनिवार्य है, मगर जहा वल-वीर्य आत्मा है, वहा चारित्रात्मा होती भी है और नही भी होती।

आत्मप्रवाद पूर्व मे इन आठ आत्माओ का विवेचन है। उनके भेद-प्रभेदो की विपुल सख्या है।

एक ही प्रकार का पानी भिन्न-भिन्न रगो के गिलास मे डाल दिया जाता है तो वह विभिन्न रगो का दृष्टिगोचर होने लगता है। लाल रग के गिलास मे डालने पर लाल दिखाई देता है और नीले रग के गिलास मे नीला। पर जल अपने स्वरूप से एक ही प्रकार का है, सिर्फ उपाधि के भेद से उसमे भिन्नता प्रतीत होती है। इसी प्रकार कपड़े का व्यापार करने के कारण मनुष्य बजाज कहलाता है, चांदी सोने की दूकान करने से सर्राफ और किराने की दूकान करने से पंसारी कहलाता है। फिर भी व्यक्ति वही है, केवल विभिन्न व्यापार करने के कारण विभिन्न टाइटिल, उसके साथ जुड जाते है। इसी प्रकार एक ही आत्मा जैसी-जैसी परिणतियो मे रमण करता है, वैसे ही वैसे नाम से पुकारा जाता है। औपाधिक सम्बन्ध से ही जीव सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि, मिश्रदृष्टि, ज्ञानी, अज्ञानी आदि कहलाता है। इस पर जैसा रग चढ जाता है, वैसा ही वह भासता है। समकित का रंग चढने पर सम्यग्दृष्टि, मिथ्यात्व का रग चढने पर मिथ्यादृष्टि और मिश्रमोहनीय का रग चढने पर मिश्रपथी कहलाता है।

हा, तो जो जीव ग्यारह अग, दृष्टिवाद अग तथा पूर्वधरो द्वारा रचित प्रकीर्णक शास्त्रो को ठीक तरह से जान कर तत्त्व पर श्रद्धा करता है, वह अभिगमरुचि कहलाता है। कहा भी है —

श्रीसर्वज्ञागमो येन, दृष्टः स्पष्टार्थतोऽखिलः।
आगमज्ञैरभिगमरुचिरेषोऽभिधीयते ॥

अर्थात्—जिस साधन ने सर्वज्ञ सर्वदर्शी प्रभु द्वारा प्ररूपित समस्त आगम जान लिया है और वह भी अर्थ समझ कर तथा

स्पष्ट रूप से समझ लिया है, उसे आगम के ज्ञाता आचार्य अभिगम-रुचि कहते है ।

भव्य पुरुषो ! सम्यक्त्व के सम्बन्ध मे काफी दिनो से बहुत सी बाते आपको बतला रहा हू । आत्मिक साधना के लिहाज से सम्यग्दर्शन का क्या महत्त्व है, यह बात आपको बतला चुका हूं । आपको विदित हो गया होगा कि सम्यग्दर्शन के बिना मोक्षमार्ग मे आप एक भी कदम आगे नही बढा सकते । अतएव मै पुनः पुन. आपको सावधान करना चाहता हू कि जिस किसी मूल्य मे हो, आपको सम्यक्त्व खरीदना ही चाहिए । सम्यक्त्व इतनी मूल्यवान् वस्तु है कि उसके लिए ससार का बहुमूल्य से बहुमूल्य पदार्थ भी अगर त्यागना पड़े तो त्यागा जा सकता है । फिर भी सम्यक्त्व महंगा नही पड़ेगा ।

सज्जनो ! अभी आपके पास वह मानवी विचार-शक्ति की पूंजी विद्यमान है, जिससे सम्यग्दर्शन रूपी चिन्तामणि रत्न खरीदा जाता है । पर याद रखना, अगर यह धन चला गया तो फिर सम्यक्त्व नही खरीद सकोगे और अनन्त काल तक भटकना पड़ेगा । एकेन्द्रिय योनि या निगोद में चले गये तो सम्यक्त्व प्राप्त नही हो सकेगा । पचेन्द्रिय सज्ञी जीव ही सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है । अतएव आप सम्यक्त्व के मूल्य, महत्त्व और स्वरूप को समझो । वीतराग के वचनो पर श्रद्धा लाओ । जो श्रद्धा लायेंगे वे ससार-समुद्र से पार हो जायेंगे ।

ब्यावर
१७-९-५६

: ११ :

अभिगमरुचि

महावीर जग-स्वामी तुमको लाखो प्रणाम ।
त्रिशलानन्द कुमार ; तुमको लाखो प्रणाम । टेक ।

अन्तर में वर करुणा जागी,
देखा भारत अति दुख भागी
वैभव की दुनिया त्यागी ॥
अटल दुर्ग पशुबलि का तोड़ा,
जातिवाद का कंठ मरोड़ा,
पतितो से नाता जोड़ा ॥

उपस्थित सज्जनो , अभी-अभी मैने आपके सामने चौवीसवे तीर्थंकर विश्वहितकर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की गुणावली के रूप मे स्तवन सुनाया है। उसमें भगवान् के जीवन की कुछ विशेषताओ का उल्लेख किया गया है।

वास्तविक जीवन वही है, जिसमे कुछ महक हो, उत्क्रान्ति हो और जिसमें स्व-पर की भलाई के तत्त्व अन्तर्निहित हो। ऐसा जीवन ही ससार मे प्रामाणिक जीवन है। हमारे देवाधिदेव, विश्व का अनुपम हित करने वाले और भूले-भटको को सही मार्ग बतलाने

वाले भगवान् महावीर थे। यद्यपि इसी कोटि के अनन्त तीर्थंकर हो चुके हैं और हम सभी का गुणगान करते हैं, क्योंकि एक तीर्थंकर से दूसरे तीर्थंकर मे कोई अन्तर नही है, तथापि विशेष रूप से हमें चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना है; क्योंकि हमारा सीधा सम्बन्ध उन्ही के साथ है। आज भगवान् महावीर का शासन है और हम उन्ही के शासन में फल-फूल रहे है। उन्ही की दी हुई पूंजी से आज हम अपना धर्म-जीवन व्यापार चला रहे है और अपने जीवन को कल्याण की ओर ले जा रहे हैं। भगवान् महावीर ने हमे मार्ग-दर्शन कराया, यह सत्य है, परन्तु रास्ता हम को ही तय करना होगा। कोई परोपकारी दयालु आप को रास्ता बता सकता है,परन्तु आपके बदले वह चल नहीं सकता। दूसरे के चलने से आप किसी मजिल पर कैसे पहुच सकते है? अतएव चलना तो स्वय को ही पडेगा, परन्तु मार्गदर्शक का उपकार भी कम नहीं है। अगर रास्ता विषम होगा तो पथिक भटक जायेगा और इष्ट लक्ष्य पर नहीं पहुच सकेगा। पथ विपरीत होगा तो पथिक लक्ष्य से और दूर जा पडेगा। अतएव पथप्रदर्शन का भी बड़ा महत्त्व है। भगवान् महावीर स्वामी हमारे सच्चे सन्मार्गदर्शक हैं। उन्होने हमें बहुत बहुत कुछ दिया है और देने मे कुछ कसर नही रक्खी है।

सज्जनो! भगवान् के मुख-चन्द्र से झरा हुआ वचनामृत आज भी हमारे सामने विद्यमान है। अगर हम उस वचनामृत का ठीक तरह से सेवन करे तो वह पूजी थोडी नही है। सपूत बेटा बाप की दी हुई थोडी पूजी को भी बड़ी बना लेता है। हाँ, कपूत बहुत पूजी को भी खत्म करते देर नही करता। अपनी जीवनयात्रा सकुशल पूरी करने के लिए हमारे पास बत्तीस सूत्र है, जो लक्ष्य

तक पहुचाने के लिए पर्याप्त है। वह अपूर्व ज्ञान ग्रथो मे—कागजो मे भरा पडा है, मगर उसकी उपयोगिता और सार्थकता तब है जब कि वह आत्मा मे आ जाये। आखिर उत्थान अगर किसी को करना है तो जीव को ही करना है। अतएव उस श्रुत को अपने हृदय मे उतारना चाहिए और उसके द्वारा आत्मा का उत्कृष्ट कल्याण करना चाहिए।

भगवान् महावीर के उपदेश के आधार पर गणधर भगवन्तो ने द्वादश अगो की रचना की थी। उनमे आज ग्यारह अग ही उपलब्ध है। बारहवाँ दृष्टिवाद अग विच्छिन्न हो चुका है।

हा, तो यहा अभिगमरुचि सम्यक्त्व का प्रकरण चल रहा है। इसका अर्थ है अगो के, दृष्टिवाद के, तथा प्रकीर्णको के भाव को—रहस्य को समझ कर अपने हृदय मे जचा लेना। कल दृष्टिवाद के सम्बन्ध मे मैने बतलाया था कि वह अग अत्यन्त विशाल था। उसके पाच विभाग थे, जिनमे से एक भाग पूर्वश्रुत था। पूर्वश्रुत भी चौदह भागो मे विभक्त था। उनमे से आत्मप्रवाद पूर्व मे आत्मा का विवेचन किया गया था। कर्मप्रवाद मे कर्मो का सागोपांग विशद वर्णन था। आत्मा के ससारपरिभ्रमण का कारण क्या है? क्यो आत्मा एक योनि से दूसरी योनि मे भटक रही है? जन्म, जरा, मरण की पीडाओ का पात्र क्यो बन रही है? आत्मा का असली ईश्वरीय रूप क्यो प्रकट नही हो रहा है? इत्यादि महत्त्वपूर्ण प्रश्नो का निराकरण कर्मप्रवाद पूर्व से होता है।

चौदह पूर्वो के ज्ञान का बडा महत्त्व है। जिसने यह ज्ञान पूर्ण रूप से प्राप्त कर लिया, उसके वचन केवली के समान प्रामाणिक माने जाते है। अगर वे उपयोगपूर्वक—सावधानी से कहते है

तो उनके और केवली के वचन मे कुछ अन्तर नही पडता। मगर खेद का विषय है कि आज पूर्वो का ज्ञान लुप्त हो गया है।

जिसने श्रुत के अर्थ को समझ लिया, उसकी बलिहारी है। मगर वास्तविक अर्थ को समझ लेना ही कठिन है। शास्त्र को समीचीन रूप से समझ लिया तो वह शास्त्र है, अन्यथा वह शस्त्र बन जाता है। शास्त्र मे अनेक दृष्टियो से, अनेक नयो से कथन किया गया है। ज्ञानियो ने अनेक रूपों से शास्त्रीय भाव कहे हैं।

प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मो का अखण्ड पिण्ड है। उनमे से किसी विशेष विवक्षा से एक धर्म को जानना नय कहलाता है। नय समग्र वस्तु को नही, वरन् वस्तु के एक धर्म को ग्रहण करता है।

सब धर्मो को समग्रता के साथ जानने वाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है। प्रमाण यद्यपि अनन्त धर्मात्मक वस्तु को विषय करता है, तथापि अनेक धर्मो का कथन एक साथ नही हो सकता। जीभ एक समय मे एक ही शब्द बोल सकती है और एक शब्द एक साथ एक ही का प्रतिपादन करने में समर्थ होता है। अतएव ज्ञानियो का कथन है कि ससार मे जितने भी शब्द है, सब नय रूप ही है। शब्द मात्र वस्तु के आंशिक भाव को ही व्यक्त करने का सामर्थ्य रखते है। कल्पना कीजिये—किसी ने कहा कि यह 'दुग्ध' है। यहा दुग्ध एक वस्तु है। उसमे अनन्त गुण विद्यमान है। जब उसे 'दुग्ध' कहा तो उसके सब धर्म तो छूट गये और सिर्फ एक धर्म का कथन हुआ। दुग्ध स्तनों से दुहा जाता है, यही दुग्ध शब्द का अर्थ है। तो दुग्ध शब्द से दुग्ध पदार्थ के अनन्त धर्मो मे से एक धर्म का—थनो से दुहे जाने का—ही बोध हुआ। मगर इस एक धर्म के अतिरिक्त उसमे जो अन्यान्य धर्म मौजूद है, उनका कथन नही हुआ। दूध मे धवलता है, मधुरता है, तरलता है, गध है, स्पर्श है, प्रमेयत्व है,

उत्पाद है, व्यय है, ध्रौव्य है, आदि। इस प्रकार किसी भी शब्द को लीजिये, उसकी व्युत्पत्ति पर विचार करेंगे तो विदित होगा कि वह वस्तु के सिर्फ एक ही धर्म का बोध कराता है।

जितने भी शब्द है, वे सब इसी कारण नय के विषय के ही बोधक होते है। अतएव जितने वचनमार्ग है, उतने ही नयवाद है। कहा भी है—

जावइआ वयणपहा, तावइया चेव हुंति नयवाया।

इस दृष्टि से देखे तो नयो की गणना ही नही हो सकती। फिर भी करुणासागर ज्ञानियो ने अल्पज्ञ जीवो की सुविधा के लिए सक्षेप मे दो–द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक–नय अथवा नैगम आदि सात नयो की प्ररूपणा की है।

नय कहिये, दृष्टि कहिये या वस्तु के आशिक भाव की ज्ञप्ति कहिए, मतलब एक ही है। सात नयो का सक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है —

(१) नैगमनय–'नैकगमो नैगम' अर्थात् जो एक ही चीज़ को नही मानता–अनेक मानता है, वह नैगम नय है। इस नय ने वस्तु का एक रूप नही माना, अनेक रूपो को माना है। इसको समझाने के लिए प्रस्थ और वसति आदि के उदाहरण प्रसिद्ध ही है।

(२) सग्रहनय–सामान्य धर्म को मुख्य करके अनेक वस्तुओ को सग्रह रूप से–एक रूप से—जानने वाला सग्रहनय है। यथा— मारवाडी कहने से टेकचन्द और रूपचन्द आदि सभी मारवाडियो का निर्देश हो जाता है। 'व्यावर' कहने से यहा वसने वाले सभी लोग–नाई, धोबी, ब्राह्मण, अग्रवाल, ओसवाल आदि तथा यहा के तालाब, कूप, उद्यान और मकान आदि सब का समावेश हो जाता

है। इसी प्रकार अनेक व्यक्तियो मे रहने वाले सामान्य धर्म को अगीकार करने वाला सग्रहनय कहलाता है।

(३) व्यवहारनय—संग्रहनय के द्वारा एक रूप मे ग्रहण किये पदार्थो मे विधिपूर्वक भेद करने वाले दृष्टिकोण को व्यवहारनय कहते है। व्यवहारनय के अनुसार सामान्य से कोई अर्थक्रिया नही होती, अतएव वह वस्तु नही है। लोक-व्यवहार मे विशेषो का ही उपयोग होना है, अतएव विशेष ही तत्त्व है। यह नय व्यवहार को लेकर चलता है। व्यवहार को त्याग कर एक कदम भी नही चल जा सकता।

(४) ऋजुसूत्रनय—इसकी ध्वनि कुछ और ही है। यह भूत और भविष्य काल का त्याग करके वर्त्तमान काल में जो वस्तु जैसी है, उसे उसी रूप मे अगीकार करता है। इसी एक नय को स्वीकार करके बौद्धो ने अपने क्षणिकवाद की स्थापना की है।

(५) शब्दनय—यह नय वस्तु को प्रधानता न देकर शब्द को प्रधानता देता है। एक वस्तु के वाचक अनेक शब्दो को स्वीकार करता है। भले ही उन शब्दो में लिंग, वचन, कारक, काल आदि का भेद हो, फिर भी वे पर्यायवाचक हो सकते है। उदाहरणार्थ—दार, भार्या और कलत्र—ये तीन शब्द स्त्री के वाचक है। दार पुलिंग शब्द है, कलत्र नपुसक लिंग और भार्या स्त्रीलिंग है। फिर भी इन तीनो शब्दो का एक ही अर्थ है, यह शब्दनय का अभिप्राय है।

(६) समभिरूढ नय—यह शब्दनय से भी आगे बढ कर यह मानता है कि एक वस्तु के वाचक अनेक शब्द हो ही नही सकते। लोक में एक वस्तु के वाचक जो अनेक पर्यायवाची शब्द प्रसिद्ध

है, वह ठीक नही । जहां शब्द का भेद है, अर्थ का भेद हो ही जाता है और जहां अर्थ का भेद है, वहां शब्द का भेद भी हो जाता है । अपनी इस मान्यता के अनुसार समभिरूढ नय इन्द्र, शक्र और पुरन्दर जैसे एकार्थक समझे जाने वाले शब्दो को भी भिन्नार्थक ही स्वीकार करता है। इस नय के अभिप्राय से सभी शब्दकोप मिथ्या है ।

(७) एवभूतनय—यह नय अत्यन्त सूक्ष्मता पर पहुंचा हुआ है। इसकी मान्यता है कि प्रत्येक शब्द से, चाहे वह व्यक्तिवाचक हो, जातिवाचक समझा जाता हो, गुणवाचक माना जाता हो अथवा किसी और प्रकार का माना जाता हो, क्रिया का ही अर्थ ध्वनित होता है और जिस शब्द से जिस क्रिया का भान होता है, उसी क्रिया मे परिणत अर्थ को उस शब्द से कहा जा सकता है । उदाहरण के लिए 'गौ' शब्द को लीजिये । 'गौ' शब्द गम् धातु से बना है, जिसका अर्थ है—गमन करना । अतएव जब कोई गमन क्रिया कर रहा है, तभी उसे गौ कह सकते हैं । जब गमन क्रिया न हो तो उस वस्तु को गौ नही कह सकते । जब कोई व्यक्ति पढा रहा हो, तभी वह अध्यापक है ; अन्य समय मे जब कि वह स्नान-भोजन आदि कर रहा हो, तब उसे अध्यापक नही कह सकते ।

यह सक्षेप मे सात नय हैं, जो वस्तु के एक-एक धर्म को अगीकार करते है ।

कहने का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति, यदि उसे नयो के स्वरूप का ज्ञान नही है, तो शास्त्र के अर्थ या भाव को नही समझ सकता । कारण यह है कि शास्त्रो की कथनी नयो के आधार पर ही है । स्थानाग सूत्र में आया है—'एगे आया ।' अर्थात्

आत्मा एक ही है। यह किस नय का कथन है ? सग्रहनय की उपेक्षा से ही यह प्रतिपादन किया गया है। अगर यहां नय की विवक्षा का ध्यान न रक्खा जाये और एकान्त रूप से आत्मा को एक ही मान लिया जाये तो वड़ा अनर्थ हो जायेगा। वेदान्त दर्शन ने एक ही आत्मा जैसे मानी है, वही जैनदर्शन की भी मान्यता वन जायेगी और अनन्तानन्त आत्माओ की जो पृथक् सत्ता है, वह नष्ट हो जायेगी। किन्तु यहा चेतन गुण की अपेक्षा से ही आत्मा का एकत्व प्रदर्शित किया गया है। प्रत्येक आत्मा मे चेतन गुण समान ह, अतएव इसी समानता के कारण आत्मा एक है।

यद्यपि चेतनत्व सामान्य सभी आत्माओ मे समान रूप से विद्यमान है, तथापि उसके भी नाना रूप हमारे अनुभव मे आते है। जिस आत्मा ने जितना क्षयोपशम किया है, उतना ही ज्ञान उसे प्राप्त होता है। उसमें भी किसी का ज्ञान सम्यक् और किसी का मिथ्या होता है। मगर यह सव विशेष है और सग्रहनय विशेष को स्वीकार न करके सामान्य को ही स्वीकार करता है। इस कारण वह चेतन सामान्य को प्रधान करके आत्मा के एकत्व को ही प्रधानता देता है।

शास्त्रो में षट् द्रव्य स्वीकार किये गये है। उनमे से जीव द्रव्य एक है। अगर जीवत्व सामान्य की अपेक्षा से जीव एक न माना जाये तो द्रव्यो की सख्या, जो छ वतलाई गई है, कैसे सिद्ध हो सकती है ? आत्मा के अतिरिक्त पाच द्रव्य आत्मरूप नही—जड़ है, इसलिए 'एके आया' का सिद्धान्त यथार्थ ही है।

मगर इस मान्यता को जव एकान्त रूप मे अगीकार कर लिया और भेद दृष्टि को सर्वथा भुला दिया तो एकमेवाद्वितीय ब्रह्म की भ्रमपूर्ण मान्यता चल पड़ी, जिसका आशय यह है कि इस विश्व मे

एकमात्र परम-ब्रह्म के अतिरिक्त किसी भी दूसरे पदार्थ की सत्ता नही है। यह एकान्त भ्रमपूर्ण है। यद्यपि जैन भी कथंचित् आत्मा का एकत्व अगीकार करते है, यहा तक कि सम्पूर्ण सृष्टि मे भी एक ही महासत्ता को स्वीकार करते है, फिर भी विशेष की अपेक्षा से जो भेद है, उसे सर्वथा अस्वीकार नही किया जा सकता। जड़ और चेतन पृथक्-पृथक् है। चेतन पदार्थ भी अनन्त है और जड़ पदार्थों के भी अनन्तानन्त भेद है। प्रत्यक्ष प्रमाण से अनुभव किये जाने वाले इन भेदो को किस प्रकार अस्वीकार किया जा सकता है ?

इस कारण मैं कहता हूं कि शास्त्र के रहस्य को समझने के लिए वडी सावधानी चाहिए। शास्त्र के अन्तस्तत्त्व को समझना और उसकी गहराई मे प्रवेश करना हरेक के लिए सरल नही है। समुद्र की गहराई मे रहे हुए मोतियो को कुशल गोताखोर ही प्राप्त कर सकता है। ऊपर ही ऊपर तैरने वालो को मोती हाथ नही लगते। इसी प्रकार मिथ्यात्व के क्षेत्र मे भटकने वाले शास्त्र के समीचीन तत्त्व को हृदयगम नही कर सकते। याद रखना चाहिए कि समुद्र मे कई जगह भवर पडते है, मगरमच्छ मु ह फाड़े बैठे रहते है और वीच-वीच मे पहाड भी होते है, जिनसे कभी-कभी जहाज़ के टकरा कर नष्ट हो जाने का खतरा वना रहता है। यद्यपि जहाज़ चलाने वाला कुशल होता है—दूरदर्शी होता है और हर खतरे का मुकाविला करने के लिए समुचित प्रवन्ध होता है, फिर भी कभी-कभी जहाज डूव ही जाता है।

सज्जनो ! मिथ्यात्व महासागर है। इसमे से स्वय सहीसलामत पार हो जाना और दूसरे यात्रियो को भी पार लगा देना बहुत ही कठिन काम है। यह सब काम होशियार ड्राइवर का है। उस पर पूरी जिम्मेदारी होती है। तागे वाले को भी जब पूरा-पूरा दाहिनी-

वाईं साइड का ख्याल रखना पड़ता है और चालान होने पर वह रिश्वत देकर छूट भी सकता है, फिर जीवन-नेता को कितना ध्यान रखना चाहिए। यह समझना कठिन नही है। मिथ्यात्व में फंसने के बाद तो छुटकारा भी आसान नही है।

तो मै कह रहा था कि शास्त्र का मर्म समझना सरल नही है। उसे न समझने के कारण मानने वालो ने एक ब्रह्म को ही मान लिया और माना भी ऐसा कि विश्व के विराट् प्रसार को एक आत्मा का ही रूप दे दिया। मगर भूलो मत, दिन दिन है और रात रात है। जमीन जमीन है और आसमान आसमान है। दोनो अलग-अलग तत्त्व है। जड़ जीव नही हो सकता और जीव जड़ नही हो सकता। सब पदार्थ पृथक् पृथक् है और पृथक् ही रहेंगे। सभी पदार्थ अपने-अपने स्वभाव मे बरत रहे है और वर्तते रहेंगे। शास्त्रो को ठीक-ठीक रूप मे समझना आसान नहीं है। शास्त्र के सत्य आशय को वही समझ सकता है जिसकी श्रद्धा यथार्थ और निर्मल है। किन्तु श्रद्धा की बात बड़ी जबर्दस्त है। जीवनकांटा घूमते देर नही लगती।

कल तिष्यगुप्त मुनि के विषय मे मै बतला चुका हू कि उनकी श्रद्धा बदलते देर नही लगी। वे गुरु के समझाने पर भी नहीं समझे पर एक चतुर श्रावक ने बात की बात मे युक्तिपूर्वक समझा कर उन की श्रद्धा सही और मजबूत कर दी। जब तक रोग के उपशान्त होने की अवधि नही आती, तब तक बडे-बडे वैद्य, डाक्टर और उच्च से उच्च पावर वाली औषध भी असफल रहती है—कोई भी उपाय कारगर नही होता। जब रोग के गमन होने का समय आता है तो मामूली-सी दवा भी कारगर हो जाती है।

सज्जनो ! उदयपुर के समीप ही, बडी ऊंचाई पर गोगुदा नामक एक ग्राम है। उसे वड़ा गाव भी कहते हैं। वहा गुरु महाराज ने चौमासा किया था। उस समय मैं भी उनकी सेवा मे था। वहां पसीना कम आता था। क्योकि गर्मी अधिक नही पडती थी। चातुर्मास-काल में मुझे गठियावात हो गया और शौचादि के लिए जाना भी मुश्किल हो गया। उस समय गुरु महाराज ने मेरी वहुत परिचर्या की। यहा तक कि मल-मूत्र भी वही परठते थे। उन्हे मेरे विषय मे वड़ी चिन्ता हो गई। खूव उपचार करने पर भी रोग शान्त नही हुआ। वहां एक राजवैद्य वहुत होशियार था। उसने रोग के निवारण के लिए मेरे हाथ पर दवा लगा कर एक छाला उठाया और जव वह पानी से भर गया तो पानी निकालने के लिए उसका ऑपरेशन किया। मगर न जाने क्या कारण वना कि छाले मे रस्सी पड गई और जख्म हो गया। इसका भी काफी इलाज कराया किन्तु घाव ठीक नही हुआ।

एक दिन की वात है। गुरु महाराज गोचरी जा रहे थे कि रास्ते में उन्हे एक भील मिला। उसने उनसे पूछा—वावा जी ! हमारे यहा के विरदीचन्दजी सेठ साधु वने हैं। क्या आप उन्हे जानते है ?

गुरु महाराज ने कहा—हाँ भाई, वह मै ही हू।

यह सुनकर भील प्रसन्न हुआ। परन्तु उसके पास हरे मक्की के भुट्टे थे। महाराज ने उस समय उससे विशेष वात करना उचित नही समझा था, अतएव महाराजश्री ने उससे कहा—भाई, पीछे स्थानक मे अवसर देखना।

वह भील गुरु महाराज का गृहस्थावस्था का आसामी था। वह यथासमय स्थानक मे आया और गुरु महाराज से वात करने

लगा। मेरे रोग के जाने का भी समझो काल आ गया था, अत. बातचीत के सिलसिले में महाराज ने जिक्र किया—चौमासा पूर्ण होने जा रहा है, मगर एक साधु को गठियावात हो गया है और वह ठीक नही हो रहा है। एक छाला भी है जिसका जख्म नहीं भर रहा है।

भील बोला—जख्म को मिनटों मे भरने वाली एक पत्ती है, जिसे मैं अभी लाये देता हूं।

गुरु महाराज ने उत्तर दिया—मगर लिलोतरी अर्थात् हरे पत्ते हमारे काम नही आ सकते। सूखी पत्ती हो तो उपयोग में आ सकती है।

भील—अच्छा अच्छा, एक सेठ के घर सूखी पत्ती भी पड़ी है। मैंने उसे लाकर दी है। मैं अभी लाता हूं।

गुरु महाराज—नहीं, मैं स्वयं लेने चलूंगा।

गुरु महाराज उस भील के साथ जाकर सूखी पत्ती ले आये। पत्ती पीस कर लगाई गई तो एक बार लगाते ही घाव भर गया और शान्ति हो गई।

कहने का अभिप्राय यह है कि जब सातावेदनीय का उदय आता है, रोग के जाने का काल आ जाता है, पुण्य का उदय होता है तो राख की एक चुटकी भी काम कर जाती है। इसके विपरीत पाप का उदय होने पर बड़े-बड़े वैद्य और उत्तम से उत्तम औषधि भी कुछ नही कर सकती।

एक राजा के यहां बडे-बड़े वैद्य सम्मान के साथ रहते थे। राजा के स्वास्थ्य के लिए नवीन-नवीन औषधो का निर्माण करते रहते थे। राजा को अपने वैद्यो की कुशलता पर बड़ा गौरव था।

एक दिन अकस्मात् ही राजा को दस्त लगने लगे। दस्त भी ऐसे लगे कि राजा को थोडी-थोड़ी देर मे जाना पडता था। इस कारण राजा थोड़ी ही देर मे अशक्त हो गया। वैद्यो ने एक से वढ़ कर एक दवा दी, पर दस्त वन्द न हुए। वैद्य उपाय करके थक गये। फिर भी मंत्रणा करके नई-नई दवाओ का प्रयोग करते ही चले गये, मगर दस्त वंद नही हुए। राजा की अशक्ति वढती गई। आप जानते है कि यह शरीर तो मल-मूत्र पर ही टिका है। यदि काली टट्टी फूट कर वाहर निकल जाये तो फिर चार आदमियों के उठाने का ही प्रसंग आ जाता है। जिस रोज ओज-आहार खत्म हो जाता है, सारा मामला ही खत्म हो जाता है।

हा, तो वैद्यो ने वहुत इलाज किया, आयुर्वेद के ग्रथ छान डाले, मगर राजा को आराम नही हुआ। तव राजा ने कहा—अरे! मै तुम्हे मान-सन्मान के साथ रखता हू, सभाल कर रखता हू। पूरी आजीविका के अतिरिक्त समय-समय पर पारितोषिक भी देता रहता हू, परन्तु समय पडने पर तुम काम नही आ रहे हो! तुम्हारी औषधे कहा चली गईं? तुम्हारा चिकित्सा-कौशल कहां गायव हो गया? सव व्यर्थ सिद्ध हो रहा है।

वैद्यो ने विचार किया—ऐसे अवसर पर राजा साहव के साथ तर्क-वितर्क करना लाभदायक नही है। उन्होने एक दवा की पुड़िया ली और वहते पानी मे डाल दी। दवा डालते ही पानी रुक गया और वर्फ की तरह जम गया। तव उन्होने राजा से कहा—अन्न-दाता! देख लीजिये, हमारी दवा मे शक्ति है या नही? मगर महाराज! टूटी की वूटी तो हमारे पास क्या धन्वन्तरी के पास भी नही है। आपने पूर्वकाल मे दूसरे प्राणियो को कष्ट, दुःख और

शोक पहुंचा कर जो असातावेदनीय कर्म का बंध किया है, उसे भोगना ही पड़ेगा ।

सज्जनो ! जब निकाचित कर्म का बंध पड जाता है तो वह भोगे बिना नही छूटता । अतएव तथ्य यह है कि जब रोग जाने का समय आ जाता है तो सहज ही इलाज हो जाता है ; और यदि प्रबल असाता का उदय होता है तो फिर सातो विलायतों मे भी क्यो न इलाज कराओ, रोग अच्छा नही होता ।

तो तिष्यगुप्त भी गुरु के समझाने पर नही समझा । उसका मिथ्यात्व रोग गुरु द्वारा अनेक शास्त्रोक्त प्रमाण देने पर भी दूर नही हुआ, क्योकि मिथ्यात्वोदय का ज़ोर था, मगर सुमित्र श्रावक ने जब एक दाना चावल का और एक दाना दाल का उसे दिया तो उसकी बुद्धि सहज में ही ठिकाने आ गई ! वह समझ गया । सन्मार्ग पर आ गया । उसने सुमित्र श्रावक का उपकार माना । सुमित्र ने देखा कि महाराज जब सही मार्ग पर आ गये है तो उन्हे वन्दना की । उसने अविनय एवं आसातना के लिए क्षमा-प्रार्थना की ।

तात्पर्य यह है कि जब इस प्रकार की भ्रान्तियाँ घुस जाती हैं तो उन्हे निकालना कठिन होता है । इस संसार मे भिन्न-भिन्न अभिरुचियो के कारण नाना प्रकार के मत प्रचलित है । उनमें से कोई-कोई मत तो इतना खतरनाक है कि इस जीवन को छिन्न-भिन्न करने के लिए ही मानो प्रचलित हुआ है । किन्तु जिनके मिथ्यात्व का उदय है, उन्हे उलटा मत भी सीधा ही दृष्टिगोचर होता है ।

पजाब मे एक वेदान्त मत प्रचलित है । वेदान्त का अर्थ है—जिसने ज्ञान का अन्त कर दिया अर्थात् जिसने ज्ञान की पूर्णता

प्राप्त कर ली है, अपने आपको आखिरी मजिल तक पहुचा दिया है, इस प्रकार यह नाम तो बड़ा सुन्दर है, किन्तु केवल नाम से ही काम नही चलता। अच्छे नाम के साथ अच्छे गुण हो, तभी कुछ लाभ हो सकता है।

वेदान्त ससार को मिथ्या मानता है। उसके अनुसार ससार न था, न है और न होगा। हमे जो दृष्टिगोचर होता है, सब भ्रम है। उसमे तथ्य नही है, सत्य नही है—सभी कुछ भ्रान्ति है। भ्रमवश ही यह सब भासता है। इस भ्रान्ति को सिद्ध करने के लिए वह एक उदाहरण देता है—रास्ते मे किसी जगह पडी हुई सीप चन्द्रमा की किरणे पडने से चमकती है और हमे चादी की भ्रान्ति होती है। किन्तु जब हम उसके समीप जाते है तो विदित होता है कि वास्तव मे यह चादी नही, सीप है। यह साप नही, रस्सी है।

तो जिस प्रकार चादी का और सर्प का प्रतिभास तो हुआ, मगर वह प्रतिमास मिथ्या था, वास्तव मे वहाँ चादी की और सर्प की सत्ता नही थी, इसी प्रकार इस विराट विश्व मे हमे जो विविध वस्तुए दृष्टिगोचर होती है, उन सबकी भी सत्ता नही है। उनका प्रतिभास भ्रान्ति है। मगर यह भ्रान्ति इतने दीर्घकाल तक चलती रहती है कि जीवन पर जीवन बीतते चले जा रहे है, मगर भ्रान्ति हटने का नाम नही लेती। और जब कभी भ्रान्ति हटती है, तब हमारी वैयक्तिक सत्ता भी भ्रान्ति के साथ ही विलीन हो जाती है।

यहा एक प्रश्न उपस्थित होता है। वह यह है कि—कारण के विना कार्य की उत्पत्ति नही होती, यह एक अटल सिद्धान्त है। जो वस्तु प्रतीत हुई थी, वह सीप निकली और चांदी नही निकली, वह रस्सी निकली और साप नही निकला। मगर इस आधार पर

दुनिया को उल्लू बनाना तथा कुतर्क करके आस्तिक को नास्तिक बना देना महापाप है। असत् को सत् और सत् को असत् मानना और प्रतिपादन करना मिथ्यात्व है। अब यह बतलाइये कि सीप मे चादी की कल्पना किसे हुई ? उसी को हुई न, जिसने पहले चादी देखी थी। जिसे चादी का बोध होगा, उसको ही यह भ्रान्ति हो सकती है, क्योकि उसने चादी का रूप-रंग देख रक्खा है। जिसने कभी चादी नही देखो, जो चादी से सर्वथा अपरिचित है, उसे सीप में चांदी का भ्रम नही हो सकता। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि आपके मन्तव्य के अनुसार दुनिया मे चांदी की हस्ती नही है—अस्तित्व नही है तो सीप मे चांदी की भ्रान्ति किस प्रकार हो सकती है ? और यदि सीप, चादी नही निकली तो क्या दुनिया से चादी की हस्ती ही मिट गई ? नही, ऐसा समझना तर्कसगत नही है। चादी चादी है और सीप सीप है। दोनो का अपना-अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। उनमे कुछ धर्म विसदृश है और कुछ सदृश है। जब विसदृश धर्मो की प्रतीति नही होती और सिर्फ सदृश धर्म-चाकचिक्य की ही प्रतीति होती है, तो मनुष्य को भ्रम हो जाता है, किन्तु यह भ्रम ही सीप और चादी की सत्ता का बोध कराता है।

इसी प्रकार रस्सी मे सर्प की भ्रान्ति तभी हो सकती है, जब किसी ने, कभी सर्प को देखा हो। जिसने पहले कभी साँप देखा नही, सुना नहीं, उसे रस्सी मे साप की भ्रान्ति हो ही नही सकती, मगर रस्सी अन्त मे रस्सी ही प्रतीत हुई, सांप न निकला; इतने मात्र से साप का अस्तित्व मिट नही सकता।

सज्जनो ! एक वेदान्ती पडित विद्वान् थे। वह सबको यही मत्र सुनाते थे कि जगत् मिथ्या है, संसार मे जितने भी जड़ और

चेतन पदार्थ प्रतीत होते है, सब भ्रान्ति है। वास्तव मे उन पदार्थो की सत्ता नही है।

इन वेदान्ती का एक पड़ोसी था। वह वहुत चुस्त और चालाक था। वह पण्डितजी का यह उपदेश सुनते-सुनते तग आ गया था। उसने मन में ठान ली कि किसी भी युक्ति से वेदान्ती जी के सिर पर जो भूत सवार है, उसे उतारा जाये। वेदान्ती जी के यहा एक वढिया भैस थी जो आठ-दस सेर दूध दिया करती थी। वह एक दिन वडी होशियारी के साथ उसकी भैस खोल लाया। लाकर अपने घर मे वाध ली। मजे से दूध निकाल कर काम मे लाने लगा।

वेदान्ती को विदित हुआ कि उसकी भैस तो पड़ोसी ले गया है; तव वेदान्ती पडोसी के यहाँ गया और वोला—क्यो जी, तुम मेरी भैस विना पूछे क्यो खोल लाये ?

पडोसी ने हलकी मुस्कराहट के साथ कहा—पण्डित जी, वोलिये मत, अपने सिद्धान्त पर कायम रहिये। कहा भैस है, कहाँ पाड़ा (कट्टा) है और कहा दूव है ! कहा आप है और कहा मै हू ? यह सव तो भ्रम है महाराज !

जव वेदान्ती ज्यादा वडवड़ाने लगा तो पड़ोसी ने तेजी दिखलाते हुए कहा—अधिक वक-झक करोगे तो डडो से पूजा करूगा। यह मै हू, मेरा घर है और मेरी भैस है। यह जगत् सत्य है। यदि जगत् असत्य है तो भैस भी नही है, तू भी नही है और कुछ भी नही है। तेरा दावा सव मिथ्या है।

आखिर पडोसी ने जव भैस नही लौटाई तो वेदान्ती ने पुलिस में रिपोर्ट कर दी कि मेरा पड़ोसी मेरी भैस खोल कर ले गया है।

थानेदार के सामने पड़ोसी की पेशी हुई। थानेदार ने पूछा—तुमने इनकी भैंस ली है ?

पड़ोसी—जी, नही ली है।

थानेदार—यह कहते हैं—ली है और तुम कहते हो—नही ली है। तो असल बात क्या है ?

पड़ोसी—यह अपने सिद्धान्त के अनुसार झूठ कहते है। यह सरकार को धोखा दे रहे हैं और आपको भी धोखा दे रहे है। इनके सिद्धान्त के अनुसार न कोई जज है, न थानेदार है, न वादी है, न प्रतिवादी है और न न्याय है। न कोई चोर है, न चुराने योग्य कोई वस्तु है और न चोरी है।

पड़ोसी का उत्तर सुनकर वेदान्ती लज्जित हो गया। फिर हंसते हुए उसने कहा—भैंस मेरे घर पर है। मैं ठाकुर जी को खूब भोग लगाता हू और मजे से दूध दही घी खाता-पीता हूं।

थानेदार असलियत समझ गया। उसे पता चल गया कि इसने भैंस ली तो है, पर चोरी के इरादे से नही, वरन् वेदान्ती की मिथ्या धारणा को दूर करने के लिए ली है। अतएव उसने भी चुटकी भरते हुए कहा—पण्डितजी ! मैं क्या कर सकता हूं ? जब भैंस नही, भैंस का मालिक नही, भैंस का पाडा नही तथा दूध भी नही है तो कौन चोर, कैसी चोरी और कौन न्याय मांगने और देने वाला ? आप ही बतलाइये, मैं क्या कर सकता हू ?

थानेदार का यह उत्तर सुनकर वेदान्तीजी के होशहवास गायब हो गये। सोचने लगे—यो तो मेरी भैंस ही चली जायेगी। और फिर क्या पता, कल दूसरी चीज भी चली जाये ! इस प्रकार

सोचते ही उनका भ्रम भाग गया। वह कहने लगे—जगत् सत्य है, सत्य था और सत्य ही रहेगा। कृपा करके मेरी भैंस मुझे दिला दीजिये।

सज्जनो! जब घर में घाटा पडा, नुकसान हुआ तो जगत् मिथ्या से सत्य रूप मे परिणत हो गया। जो सिद्धान्त दिमाग मे जड़ जमा कर बैठा था, फौरन काफूर हो गया।

इसी प्रकार पजाब मे एक मत और प्रचलित है। वह नास्तिको की ही एक शाखा है। उसकी मान्यता है कि इस जिन्दगी मे खूब खाओ, पीओ, मौज करो और गुलछर्रे उडाओ। हाथ में जो भोग-उपभोग की सामग्री आ गई है, उसका पूरी तरह उपयोग कर लो। कौन जानता है कि परलोक है या नही?

पाच मकार ही उनका महामंत्र है—मास, मदिरा, मैथुन, मृषा और मोक्ष। तात्पर्य यह है कि वे कहते है—खूब मास खाओ, क्योकि ईश्वर ने हमारे लिए ही पशु-पक्षियो की रचना की है। ये उपयोग मे नही आयेगे तो मर जायेगे, सड जायेगे और नष्ट हो जायेगे।

भाइयो! कैसी विलक्षण बुद्धि है! क्या बढिया सदुपयोग खोज निकाला है! दूसरो की जान जा रही है और तू उनका सदुपयोग कर रहा है! पड़ोसी के घर मे आग लगा कर तमाशा देखना सहज है, किन्तु जब निज के घर मे आग लगती है, तभी मनुष्य की आँखे खुलती है। याद रख, तू पडोसी की झोपडी जलती देख कर खुश हो रहा है, मगर थोडी-सी देर मे ही तेरी भी बारी आने वाली है।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र १४वे के अध्ययन मे वर्णन आता है कि भृगु नामक एक राजपुरोहित था। उसके दो पुत्र दीक्षा ग्रहण करने

को उद्यत होते है तो उनके माता-पिता उन्हे घर मे ही रहने का आग्रह करते है। मगर उनकी रग-रग मे वैराग्य समा चुका था। अतएव माता-पिता का आग्रह व्यर्थ जाता है। वे अपने निश्चय पर अटल रहते है। आखिर माता-पिता हार मानते है और विचार करते है कि जब लड़के ही घर में नही रहते तो हम ही रह कर क्या करेगे ? हम तो दुनिया के भोग भोग चुके है, अतएव हमे भी अपने लड़को के साथ दीक्षित हो जाना चाहिए।

आज तो यह दशा है कि घर मे सब प्रकार की अनुकूलता होने पर भी और ६०-७० वर्ष की उम्र हो जाने पर भी लोग ममता कम नही करते और कुम्हार के गधे की तरह लदते ही रहते है। कुम्हार बूढे गधे को जैसे निवृत्त—रिटायर्ड—नही करता, उसी प्रकार लडके अपने बूढे बाप को भी निवृत्ति ग्रहण नही करने देते। और जैसे गधा अपनी जिन्दगी के आखिरी दिनो मे भी लदता चला जाता है, उसी प्रकार बूढे भी अन्तिम सास तक परिवार और व्यापार का भार वहन करते रहते है। आखिर वे धधा करते-करते ही मर जाते है। उन्हे यह विचार ही नही आता कि महामूल्यवान् जीवन का उत्तम से उत्तम अधिकाश समय संसार-व्यवहार में व्यतीत किया है तो रहा-सहा थोडा सा अन्तिम समय आत्मकल्याण में भी लगा दे।

हां, तो भृगु पुरोहित, उसकी पत्नी और दोनो पुत्र—इस प्रकार चारो प्राणी दीक्षा अगीकार करने के लिए तैयार हो गये। यह समाचार राजा को मालूम हुआ तो उसने पुरोहित की समस्त धन-सम्पत्ति ले आने के लिए अपनी गाडियाँ भेज दी। पुरोहित को इनकार नही था। अतएव राजा की गाड़ियों मे माल भर लिया।

गया। गाडिया राजभवन की ओर चल पडी। रानी कमलावती ने भरी गाडिया आती देखी तो वह उतर कर नीचे आई। उसने कर्मचारियो से पूछा—यह किसका माल खजाने मे रखने के लिए लाया गया है ? उसे उत्तर मिला—भृगु पुरोहित, उनकी पत्नी और दोनो पुत्र दीक्षा ले रहे है। यह उन्ही का माल है।

रानी वडी विचक्षणा और धर्मशील भी थी। यह वात उसके हृदय मे तीर को तरह चुभ गई। वह तत्काल राजा के पास पहुची और वोली—प्राणनाथ ! कितनी लज्जा की बात है कि जो सम्पत्ति आपने अपने हाथ से दान मे दे दी थी, उसी को पुन लेकर खजाने मे रखवा रहे है ! याद रखिये, एक दिन आपको भी मरना है। यथा—

मरिहिसि रायं जया तया वा, मणोरमे कामगुणे जहाय ।
एक्को हु धम्मो नरदेव ! ताण, न विज्जई अन्नमिहेह किंची ।।

अर्थात्—हे नरदेव—नरो का राजा ! एक मात्र धर्म ही ससार मे रक्षा करने वाला है ; मगर आप धन के पीछे मान भूल रहे है और धर्म को भी भूल रहे है !

रानी कहती है—मनुष्य दूसरो को दुखी देख कर प्रसन्न होते है। जैसे जगल मे आग लग जाती है, पवन आदि का सयोग पाकर प्रचण्ड रूप धारण कर लेती है। जगल के पशु-पक्षी उसकी ज्वालाओ और लपटो मे भस्म होते है। किसी का घोसला समाप्त, तो किसी के अडे भस्म ! किसी के चहचहाते हुए मासूम वच्चे आग का भोज्य वन जाते है। उस समय दूसरी तरफ के पक्षी खुशिया मनाते है ! यही हाल नीच प्रकृति के मनुष्यो का है। जब पड़ोसी की हानि होती है, उसपर कोई वड़ा सकट आकर पड़ता है, तो वह

सोचता है—इस साले का नुकसान हुआ तो अच्छा हुआ । यह इसी के योग्य था । मगर याद रखना एक दिन तेरा भी नम्बर आ सकता है ।

दुनिया के लोगो ! मरने वाले मर रहे है और देखने वाले प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं । उन्हे पता नही कि यह प्रसन्नता की ज्वालामुखी मुझे भी भस्म कर देगी । जिसने जन्म धारण किया है, उसका मरण भी अनिवार्य है ।

उर्दू के एक शायर का कहना है—वृक्ष की डालियो में फूल लगे है । उन फूलो मे महकने वाली सुगंध है । किन्तु वह तभी तक है, जब तक कि डालिया वृक्ष पर लहरा रही है और फूल अपनी छटा दिखला रहे है । जब पतझड़ का मौसिम आयेगा, सब फूल झड जायेगे और सूख कर नष्ट हो जायेगे, तब सुगंध का भी कही पता न चलेगा ।

इसी प्रकार प्रत्येक प्राणी के जीवन मे पतझड़ का समय आता है । मृत्यु किसी का लिहाज नहीं करती । अतएव मनुष्य को जो कुछ करना है, मृत्यु आने से पूर्व ही कर लेना चाहिए । शास्त्र कहता है—

> जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढई ।
> जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ।।
>
> —द. सू. अ. ८, गा. ६

यह ज्ञानियो की खुली घोषणा है । जब तक बुढापा नही आ पाया है, आधि-व्याधि ने ग्रस्त नही कर लिया है, इन्द्रियो की शक्ति क्षीण नही हुई है, तब तक धर्म का आचरण करलो ।

मगर उलटी खोपडी के लोग कहते है—जब तक इन्द्रिया क्षीण नही हुई है, तब तक दुनिया के भोग भोग लो । क्योकि जब शरीर

क्षीण हो जायेगा और इन्द्रिया असमर्थ हो जायेगी, तव भोग नही भोगे जा सकेगे और धन का उपार्जन करना भी कठिन हो जायेगा ।

अरे दुनिया के लोगो ! क्यो आंखे होते हुए भी अंधे वन रहे हो ! देखते नही, दुनिया मे कितने लोग धन कमा-कमा कर और उसके ढेर लगा-लगा कर चले गये ? जो नही गये है, वे भी चले जायेंगे ।

हां, मगर 'मौजे वहार' धर्म के अनुयायी कहते है कि दुनिया के सव जानवर हमारे लिए ही पैदा किये है खुदा ने और इनको न खाना खुदा के हुक्म की उदूली करना है ! मगर सज्जनो ! उनका यह कहना जिह्वालोलुपता के सिवाय और कुछ भी नही है । धन्य है ऐसे खुदा को जो मनुष्यो के खाने के लिए जानवर पैदा किया करता है और धन्य है वे लोग जो खुदा के खफा हो जाने के डर से जानवरों को काट कर अपने पेट मे डाल लेते है । भाइयो ? कोई माली वगीचा लगाये और और कोई स्वार्थी उसे नष्ट कर दे तो क्या वह माली उससे प्रसन्न होगा ? कदापि नही । वह प्रसन्न होने के वदले उसे दण्डित करेगा । इसी प्रकार खुदा ने यह वगीचा लगाया है और तुम इसे नष्ट करना चाहते हो और नष्ट करते हो तो क्या वह प्रसन्न होगा ? नही, इससे खुदा प्रसन्न नही होने वाला है ।

यही नही, उनका कहना है कि मदिरा पीओ और इतना पीओ कि मस्त हो जाओ ! फिर मया-मृषा अर्थात् झूठ वोलो ; सत्य वोलने की आवश्यकता नही, क्योकि झूठ वोलना धर्म है और सत्य भाषण करना पाप है ।

सज्जनो ! इस सम्वन्ध मे आपकी अन्तरात्मा क्या कहती है ? सत्य वोलना अच्छा और श्रेयस्कर है या असत्य वोलना ? कौन-सी

चीज घर मे रखने योग्य है ? घर में सत्य को रखना चाहिए या कूड़े को—झूठ को ? झूठ निकाल देने योग्य है। सत्य को शास्त्र मे भगवान् कहा है और वही मनुष्य के लिए आराधनीय है। सत्य से इह—पर दोनो लोक सुधरते है और असत्य दोनो लोको को बिगाड़ देता है। असत्य का प्रयोग करने वाला मनुष्य अविश्वास का भाजन बनता है और उसकी सच्ची बात पर भी कोई विश्वास नही करता। असत्यवादी सदैव सशक दृष्टि से देखा जाता है । सभी लोग उससे घृणा करते है। कोई उसे सत्पुरुष नही कहता। इसी कारण सत्य की बडी महिमा है और संसार के सभी सभ्य व्यक्ति एक स्वर से सत्य की उपादेयता अंगीकार करते है।

भगवतीसूत्र मे उल्लेख आया है कि—भाषा चार प्रकार की है—(१) सत्य भाषा, (२) असत्य भाषा, (३) मिश्र भाषा और (४) व्यवहार भाषा। जो वस्तु या घटना जैसी है, उसे उसी रूप मे कहना सत्य भाषा है। अन्यथा कहना असत्य भाषा है। जिस भाषा मे कुछ अश सत्य का और कुछ अश असत्य का सम्मिलित हो, वह मिश्र भाषा कहलाती है। जिसमें सत्य-असत्य का व्यवहार नही होता, वह व्यवहार भाषा कहलाती है।

इन चारो में से सत्य भाषा और व्यवहार भाषा ग्रहण करने योग्य है और असत्य भाषा तथा मिश्र भाषा त्यागने योग्य है। इन दोनो प्रकार की भाषाओ का परित्याग कर देने मे ही आत्मा का कल्याण है।

भगवतीसूत्र मे यह विधान भी किया गया है कि भाषा के जो पुद्गल है, वे अन्दर से निकलते है और उस समय चार स्पर्श वाले होते है। किन्तु बाहर आने पर अष्टस्पर्शी बन जाते है। जब

वे अष्टस्पर्शी रूप ग्रहण करते है, तभी सुने जा सकते है । जो भाषा के पुद्गल जिस भाषा के लिए ग्रहण किये गये है, वे पुद्गल उसी भाषा के बोलने मे काम आते है, दूसरी भाषा के बोलने मे काम नही आयेगे । उदाहरण के लिए—आपके यहा दान के अलग-अलग खाते होते है । आयंबिल खाता, शुभ खाता, जीव-रक्षा खाता आदि-आदि आप रखते है । जो रकम जिस खाते के लिए आती है, वह उसी खाते मे खर्च की जाती है । इसी प्रकार चार तरह की भाषाओ मे से जो भाषा अधिक प्रयोग में आती है, उसके पुद्गल अधिक खर्च होते है और जो भाषा अधिक काम मे नही आती, उसके पुद्गल अधिक खर्च नही होते ।

अब कोई कह सकता है कि अधिक सत्य भाषण करने से सत्य भाषा के पुद्गल अधिक खर्च हो जायेगे । जैसे घड़े मे से पानी अधिक निकाला जायेगा, तो वह उसी परिणाम मे कम रह जायेगा और अन्तत कूड़ा-कचरा ही शेष रहेगा । अतएव सत्य को सभाल कर रखना चाहिए, यानी सत्य का प्रयोग नही करना चाहिए और असत्य के कचरे को बाहर निकाल देना चाहिए अर्थात् असत्य भाषा बोलनी चाहिए, जिससे वह असत्य बाहर निकल जाये ।

इस प्रकार की कुयुक्तिया देकर लोग भोले-भाले मनुष्यो को अपनी ओर आकर्षित करते है और उन्हे उनके पथ से भ्रष्ट कर देते है । मगर दुनिया के लोगो ! किस भ्रम मे पड़े हुए हो ? याद रक्खो, यह अटल सिद्धान्त है कि सत्य का कभी दिवाला नही निकलने वाला है । उनके कथन के खडन के लिए अधिक कहने की आवश्यकता नही । सत्य परिमित नही, अपरिमित है । सत्य आकाश की तरह अनन्त है, काल की तरह अक्षय है । उसका कभी

अन्त नही आ सकता। बोलते-बोलते भी उसका कभी खात्मा नही हो सकता। वह कदापि समाप्त नही होगा। अगर सत्य की समाप्ति हो जाये तो यह सृष्टि ही स्थिर न रहे। परन्तु ऐसा अवसर कभी आने वाला नही। कहा है—

जो सत्य है उसका नाश नहीं,
नहीं असत कभी पैदा होता।
षट् दर्शन अपनी तोपों से,
आजमा लें जिनका जी चाहे॥

जो पाखडी और दम्भी लोग दूसरो को पथभ्रष्ट करने की कुचेष्टा करते है और कुतर्क करके कहते है कि सत्य का प्रयोग करोगे तो सत्य का दिवाला निकल जायेगा, वे चाहे स्वय भ्रम में न हो परन्तु दूसरो को अवश्य ही भ्रम में डालते हैं। उनका कहना ऐसा ही समझो जैसे कोई कहे—किसी को ज्ञान-दान मत दो, वर्ना तुम्हारा ज्ञान समाप्त हो जायगा। तुम्हारे ज्ञान की सारी पूंजी समाप्त हो जायेगी। तुम कोरे रह जाओगे! तुम्हारा सम्पूर्ण ज्ञान लुट जायेगा तो तुम जड़ वन जाओगे।

भाइयो! आप लोगो मे भी इतनी बुद्धि तो है ही कि इस तर्क की असलियत को समझ सके। ज्ञान देने से ज्ञान बढता है या घटता है? दान से ज्ञान की दिन-दूनी और रात-चौगुनी वृद्धि होती है। इसी प्रकार अगर तुम सत्य को वितीर्ण करोगे, बिखेरोगे दुनिया मे फैलाओगे, तो उसकी वृद्धि होगी। उस सत्य का विकास होगा। वह फैलता जायेगा और समस्त विश्व को सत्यमय बना देगा। ऐसी स्थिति मे, अरे मूर्ख! तू क्यों कहता है कि सत्य बोलने से सत्य का दिवाला निकल जायेगा। सत्य शाश्वत है।

नित्य है। ध्रुव है। जिसका विनाश हो जाता है, वह सत्य ही क्या है। नाश होने वाला सत्य नही, असत्य है।

सज्जनो! गभीर और दीर्घ विचार न करने से मामला और का और हो जाता है। आप अभी मेरे सामने बैठे है और देविया भी बैठी है। मगर आप मे ऐसा भोलापन है कि दूसरी जगह जाने पर कोई कान मे दूसरी फूक मार दे तो आपको अपना रुख वदलते देर नही लगती। आप जल्दी ही मिथ्यात्व के चक्कर मे पड़ जाते है। मगर मैं आपको सावधान करना चाहता हू कि— सज्जनो! गुरु की समुचित वात को मानने के लिए तैयार रहो। दम्भियो से वचो। सोचे-समझे विना किसी की वातो मे मत आओ। गुरु वनाने से पहले भलीभाति सोच लो, विचार लो और गुरु की परीक्षा करलो। किन्तु जिसे गुरु मान लिया है, उसपर पूर्ण श्रद्धा रक्खो।

सुवह का भूला शाम को भी ठिकाने आ जाता है तो वह भूला नही कहलाता। प्राचीन काल मे जो महापुरुष हो चुके है, वे सदा से ही महापुरुप नही थे। उन्होने भी अपने पूर्वभवो मे मिथ्यात्व का सेवन किया था। किन्तु मिथ्यात्व का सेवन करने के पश्चात् भी वे सन्मार्ग पर आ गये। ठिकाने पहुच गये। इसी प्रकार अगर आपका भूतकाल अन्धकारमय रहा है तो चिन्ता नही। आप वर्त्तमान मे गलत मार्ग पर चल रहे हैं तो भी कोई वात नही। मगर अव अपनी भूल को सुधार लेना चाहिए। सत्य का प्रकाश पा लेने पर भी अन्धकार मे भटकना वड़ा दुर्भाग्य होगा। हां, एक वात आपको अवश्य ही ध्यान मे रखनी चाहिए और वह यह है कि विना सोचे-समझे और निर्णय किये किसी पर इलजाम मत

लगाओ। किसी पर निराधार शंका मत करो। ऐसा करने का परिणाम अच्छा नही निकलता।

चार लडकिया थी। एक राजा की, एक पुरोहित की, एक कोतवाल की और एक दीवान की लड़की थी। चारो सहेलियां थी और उनका आपस मे अटूट प्रेम था। चारो समवयस्का थी और एक दूसरी को हृदय से प्रेम करती थी।

एक वार चारो सहेलिया एकान्त स्थान मे रगरेलियां कर रही थी। रात का समय था और चांदनी का उज्ज्वल प्रकाश फैल रहा था। चादनी की उस अनोखी छटा मे वे वार्त्तालाप और विनोद का आनन्द ले रही थी और साथ ही चर्खा कातती जाती थी—महात्मा गाधी के सुदर्शन-चक्र को घुमा रही थी।

आज की सेठानियां वेकार वैठी-वैठी वाते करती रहती है। अड़ोस-पड़ोस वालो की निरर्थक चर्चा, निन्दा आदि करके अपना समय नष्ट करती है और विकथा करके पाप का उपार्जन करती है। शारीरिक श्रम न करने के कारण वे रवड़ की तरह फूल जाती है। स्वास्थ्य-रक्षा के लिए शारीरिक श्रम अनिवार्य समझा जाता है। समुचित श्रम अनेक प्रकार के रोगो का प्रतिरोध करता है। साथ ही, उससे स्वावलम्बन का भाव भी उत्पन्न होता है। एक मनुष्य अपने छोटे-छोटे कार्यो के लिए भी दूसरो पर अवलम्बित रहे, और अपने आप अपना काम न कर सके, यह उसके लिए लज्जा की वात है। मगर आज पैसे वालो ने उसे प्रतिष्ठा की कसौटी समझ लिया है। वे मानते है कि स्वयं अपना काम करने से प्रतिष्ठा मे कमी हो जाती है। वास्तव मे यह अज्ञान और नासमझी का ही फल है।

आज प्राय घर-घर में वैद्यो और डाक्टरो की आवश्यकता पडती है । बारहो मास घर का कोई न कोई सदस्य रोग का शिकार बना ही रहता है । फिर भी लोग शारीरिक श्रम की उपयोगिता को नही समझते, यह आश्चर्य की व त है ।

मनुष्य को प्रमादशील नही, उद्योगशील होना चाहिए । स्वावलम्बी बनने में गौरव मानना चाहिए । यो तो जगत् के सभी मनुष्य परस्पर एक-दूसरे पर अवलम्बित है , मगर जो काम स्वयं किया जा सकता हो और जो शारीरिक स्वस्थता के लिए आवश्यक हो, उसके लिए परावलम्बी होना योग्य नही कहा जा सकता । इसके अतिरिक्त प्रमादमय जीवन बनने से स्वास्थ्य को भी क्षति पहुचती है ।

हा, तो वे चारो लड़किया बड़े घरो की थी, फिर भी बड़े चाव से चरखा कात रही थी । अचानक राजा भी उधर जा निकला, उसने चारों लडकियो को वहा बैठा देखा तो वह एक किनारे छिप कर खडा हो गया और कान लगा कर उनकी बाते सुनने लगा । उनका वार्त्तालाप इस प्रकार चल रहा था—

राजा की लडकी कह रही थी—ऐ सखी ! वह गया ।

दूसरी बोली—वह नही है ।

तीसरी—वह होता तो न जाता ।

चौथी—गया तो जाने दो ।

इस प्रकार चारों ने अपनी-अपनी बात कही और अन्त मे यह भी कहा कि अब रात अधिक हो गई है, अतएव चलना चाहिए ।

राजा ने इन लड़कियो का वर्त्तालाप सुना तो उसके चित्त में कुछ शका उत्पन्न हो गई । वह रात भर सोच-विचार मे डूबा रहा और निश्चिन्त रूप से निद्रा भी न ले सका ।

प्रभात हुआ। राजा दैनिक कृत्यो मे निवृत्त होकर दरबार में गया और जाते ही चारो लडकियो को बुलाया। जब चारो आ गई तो राजा ने कहा—बडे खेद की बात है कि तुम चारो बडे घरो की बेटिया होकर भी रात को क्या रचना रच रही थी! तुम अपने-अपने कुल को कलकित कर रही हो! अफसोस!

लड़किया राजा का यह आक्षेपपूर्ण कथन सुन कर भी निर्भय थीं। उनके मन में पाप नहीं था। जहा पाप है, असत्य है, वहा भय है। सत्य को क्या भय? सत्य का उपासक सदैव और सर्वत्र निर्भय रहता है। फिर भी राजा ने उन पर जो मिथ्या दोषारोपण किया, उससे उनके चित्त को खेद अवश्य हुआ। तत्पश्चात् राजकुमारी ने पूछा—पिताजी, आपने हमें किस लिए बुलाया है?

राजा—रात्रि में मैंने तुम्हारा वार्त्तालाप सुना है। उसे सुन कर मेरा सिर शर्म से नीचा हो रहा है।

जब राजा ने अपने मनोभावो को इस प्रकार व्यक्त कर दिया तो लड़कियो की समझ में आया कि असलियत क्या है और क्यो हमें बुलाया गया है? वह सोचने लगी—किसी की अधूरी बात सुनकर ही कोई अभिप्राय बांध लेना और उसे दोषी भी समझ लेना कितना बड़ा अन्याय है! इससे कितना अनर्थ हो सकता है, यह कहना कठिन है।

तो चारो लडकियों के हृदय को चोट पहुची, किन्तु वे चुप रही। अन्त में राजा की बेटी ने हिम्मत करके कहा—पिता जी! बहुत दुःख की बात है कि आपने पूरी बात सुने बिना ही कुछ अभिप्राय बना लिया और हमारे ऊपर कलक भी चढ़ा दिया। मगर बात और ही कुछ थी। वह यह थी कि जब हम सब चर्चा

कात रही थी तो दीपक का तेल समाप्त हो गया । यह देख कर मैंने कहा कि–वह गया अर्थात् दीपक बुझने को तैयार है। तब दूसरी ने कहा–वह नही है, अर्थात् दीपक म तेल नही है । तीसरी ने कहा–वह होता तो नही जाता, अर्थात् तेल होता तो दीपक न बुझता । अन्त मे चौथी ने कहा–वह जाता है तो जाने दो, अर्थात् दीपक बुझता है तो बुझने दो , क्योकि रात भी काफी हो चुकी है । अब हमे कताई बन्द कर देनी चाहिए ।

हमारा यह आशय था। आपने उसे समझा नही और हमसे पूछने का कष्ट भी नही किया; फिर भी उतावले मे हमे लांछन लगा दिया ! जिसे दोषी ठहराना है, उसे सफाई देने का भी अवसर मिलना चाहिए । यह एक सामान्य नियम है । आपने इस न्यायसंगत नियम का भी उल्लघन किया ।

यह स्पष्टीकरण सुनकर राजा ने बहुत पश्चात्ताप किया । वह सोचने लगा—वास्तव मे यह मेरी बड़ी मूर्खता है कि बिना सोचे-समझे ही मैंने इन पवित्र आत्माओ—निर्दोष लड़कियो पर निर्मूल सन्देह करके लाछन भी लगा दिया । ठीक कहा है—

बिना बिचारे जो करे, सो पाछे पछताय ।
काम बिगारे आपुनो, जग में होय हंसाय ।।

जो नर या नारी बेकार इकट्ठे होकर दुनिया भर की भलाई-बुराई किया करते है और पवित्र आत्माओ के माथे कलक चढाने से भी नही हिचकते, उन्हे राजा की भाति पश्चात्ताप तो करना ही पड़ता है, परलोक मे भी अतिशय कटुक फल भोगने पडते है ।

हां, किसी के प्रति कोई शका है और उसका निवारण करना आवश्यक प्रतीत होता है तो सर्वप्रथम उसी से बात करनी चाहिए

जिसके प्रति शंका हो। अगर समुचित समाधान हो जाये तो वात वही समाप्त कर देनी चाहिए। उसमें कोई तथ्य प्रतीत हो और वह भूल स्वीकार न करे और उसके भूल स्वीकार न करने से सार्वजनिक हानि प्रतीत होती हो तो उसे भी उचित प्रणाली से ही हल करना चाहिए। यह नही कि द्वेषवश वाजार में ढोल पीटते फिरो। ऐसा करने से आप अपनी आत्मा को उससे भी ज्यादा कलुषित वना लोगे

मगर आज समाज का वायुमंडल वडा विषाक्त वना हुआ है। लोग सच या झूठ, किसी को कुछ भी कलक चढाते देर नही करते। मगर याद रक्खो, आसमान पर थूकने से तो वह थूक अपने ही ऊपर ही आकर गिरेगी। कीचड़ में पत्थर फेंकोगे तो अपने ही कपड़े गदे कर लोगे। दूसरे का कुछ भी विगड़ने वाला नही है।

आपको विदित होना चाहिए कि जैन शास्त्रो में पर-पीडाकारी और दूसरो को कलंक लगाने वाला वचन मिथ्या वचन माना गया है। आपको इस प्रकार की मिथ्या भाषा से भी वचना चाहिए।

हा, मगर मौजेवहार के अनुयायी इस सिद्धान्त को स्वीकार नही करते। वे मिथ्याभाषण की हिमायत करते है। उनका सिद्धान्त है कि अन्दर से सत्य को मत निकालो। उसे भीतर ही सुरक्षित रहने दो। सत्य वोलने से वह खर्च हो जायेगा।

उन्हे मालूम होना चाहिए कि सत्य का भंडार अक्षय है और कभी उसका अन्त आने वाला नही है। सत्य का अन्त आ जाये तो विश्व मे प्रलय का नजारा दिखाई देने लगे। परन्तु आप निश्चिन्त रहिये। सत्य का कभी अन्त नही आ सकता। लोग अपने मन की वासनाओं को चरितार्थ करने के लिए इस प्रकार की मनगढत बातें करते है और मूढ़ जनो को जाल में फँसाते है।

इस प्रकार के लोग पत्थर की नौका के समान है । वे स्वय डूबते है और दूसरो को भी डुबाते है । उनके जाल में फसे हुए लोगो को छुटकारा मिलना भी कठिन हो जाता है ।

विवेकवान् जन इन लोगो के चक्कर मे नही पडते । वेचारे अज्ञानी और भोंदू ही सब्ज बाग देखकर लुभा जाते है और अपने जीवन को बरबाद कर डालते है । जिन्होने समीचीन शास्त्रो का समझ के साथ अध्ययन किया है, वे किसी भी प्रकार के मिथ्यात्व मे नही पडते । शास्त्र का अध्ययन करने से अर्थ और परमार्थ का बोध हो जाता है । ऐसे ज्ञानी पुरुष सोच-समझ कर और शास्त्र को कसौटी बना कर ही आचरण करते और जीवन का लाभ लेते है ।

सज्जनो ! जो आत्माएं ज्ञानाभ्यास करती है और तदनुकूल आचरण करती है, वे ससार—सागर से पार होकर अनन्त आनन्द का भाजन बनती है ।

ब्यावर
१९-९-५६